"डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिची आवेगी सकल समृद्धि।"

—प्रसाद

निवेदन

श्री जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी-साहित्य के एक सुदृढ़ प्रकाश-स्तम्भ हैं। कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, आलोचक, निबन्ध-लेखक आदि सभी रूपों में उन्होंने हिन्दी-साहित्य में एक नवीन युग का प्रवर्त्तन कर अपनी प्रतिभा का उज्ज्वल प्रकाश फैलाया है। आज प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में उनकी कृतियों का अध्ययन बड़ी रुचि, लगन और जिज्ञासा के साथ किया जा रहा है। साहित्य के सामान्य पाठकों और जनसाधारण के बीच उनके साहित्य का निरन्तर प्रसार-प्रचार हो रहा है। भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के एक अग्रदूत एवं प्रतिनिधि स्रष्टा के रूप में रूस जैसे महान् देशों में उनकी जयन्ती मनाई जाने लगी है। निश्चय ही प्रसाद भारतीय संस्कृति एवं तत्त्व-चिन्ता के क्षेत्र के एक मेधावी मनीषी, आलोचना क्षेत्र के एक आलोकवाही साहित्य-चिन्तक, और सृजन के क्षेत्र के एक क्रान्तिकारी, प्रबुद्ध और रस-चेता स्रष्टा, तथा विविध साहित्य-शैलियों के सफल आविष्कर्त्ता हैं।

ऐसे वाणी के अवतार की बहुमुखी सर्जना पर चिन्तन-मनन वस्तुतः लेखनी का सदुपयोग है। 'प्रसाद' के समस्त साहित्य के सामूहिक सिंहावलोकन का प्रयास हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में इधर अनेक ग्रंथों में हुआ है किन्तु उनके विविध साहित्य-रूपों (नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी आदि) को पृथक्-पृथक् लेकर उनकी कृतियों का एक साथ स्वतन्त्र सामूहिक अध्ययन इधर नहीं दिखाई पड़ा है। प्रस्तुत ग्रंथ "महाकवि प्रसाद" में 'प्रसाद' की कविता को लेकर एक ऐसा ही विनम्र प्रयत्न किया गया है। यदि इस पुस्तक द्वारा 'प्रसाद' की कविता के प्रति पाठकों की कुछ रुचि बढ़ी तो लेखक-द्वय का श्रम सर्वथा निष्फल गया नहीं समझा जायगा।

विचार-विमर्श तथ्य-प्राप्ति की ओर बढ़ने का साधन है। साहित्य-क्षेत्र में—विशेषतः किसी महाकवि के जीवन-दर्शन तथा उसके काव्य की व्याख्या

में—कोई बात अन्तिम निर्णय के रूप में नहीं कही जा सकती। इस दृष्टि से हमारा यह प्रयत्न 'प्रसाद'-काव्य के पूर्ण अध्ययन का पर्याय कदापि नहीं है। इस उदार भाव के साथ ही विद्वान् एवं अन्य साहित्य-प्रेमी इस प्रयत्न को ग्रहण करेंगे, ऐसी आशा है।

विजयेन्द्र स्नातक
रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

२४-५-१९५८

महाकवि प्रसाद

: १ :

जीवन–वृत्त

पूर्वज—महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म माघ शुक्ल दशमी संवत् १९४६ वि० (सन् १८८९ ई०) में काशी के एक सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज गाजीपुर जिले के सैदपुर नामक कस्बे के निवासी थे। सैदपुर में उनका खाँड-शक्कर का व्यवसाय था। व्यापार में घाटा होने पर श्री जगन साहु जीविका के लिये काशी चले आये और वहीं स्थायी रूप से बस गये। काशी में उन्होंने अपना व्यवसाय भी बदल लिया और तम्बाकू की दुकान खोलकर व्यापार करने लगे। जगन साहु के दो पुत्र थे गुरुसहाय साहु और गणपत साहु। गुरुसहाय साहु की वंश-परम्परा में उनके पुत्र गोवर्धन हुए और उनके दो पुत्रों में एक निस्सन्तान रहे और दूसरे पुत्र के एक पुत्र हुआ किन्तु उसके भी निस्सन्तान रहने के कारण यह परम्परा आगे नहीं चल सकी।

श्री गणपत साहु की परम्परा आगे बढ़ी और व्यापार की दिशा में नया परिवर्तन हुआ। उन्होंने तम्बाकू के नये सुगंधित चूर्ण 'सुँघनी' के रूप में तैयार करके बेचना प्रारम्भ किया; तभी से इस घर का नाम 'सुँघनी साहु' विख्यात हो गया। इनके एकमात्र पुत्र शिवराम साहु ने 'सुँघनी' के व्यापार को बहुत बढ़ाया, फलतः यह परिवार काशी में आपके समय से दानी-मानी परिवार समझा जाने लगा। शिवराम साहु के छः पुत्र हुए जिनमें देवीप्रसाद साहु के पुत्र श्री जयशंकर प्रसाद हैं। श्री जयशंकर प्रसाद अपने भाई-बहिनों में सबसे छोटे थे। अपनी माता श्रीमती मुन्नी देवी का इस कारण इनके प्रति विशेष प्रेम था। जयशंकर के पहले इनके कई भाई-बहिनों की मृत्यु हो चुकी थी अतः इनके दीर्घायुष्य के लिए गोला गोकर्णनाथ महादेव की मन्नत मान दी गई थी। नाक छेदकर बुलाक धारण कराई गई और

झारखंड के वैजनाथ भगवान् की उपासना-आराधना द्वारा इन्हें विशेष रूप से भक्त बालक का पद दिया गया।

प्रसाद जी ने जिस परिवार में जन्म लिया था वह एक सम्पत्तिशाली परिवार था। सुँघनी की बिक्री के कारण उनकी दुकान पर सभी प्रकार के व्यक्तियों का जमघट लगा रहता। इनके पिता श्री देवीप्रसाद जी अर्थोपार्जन में कुशल होने के साथ व्यय करने में भी बड़े उदार थे। कवि, पंडित, ज्योतिषी, गायक आदि विविध वर्ग के कलाकारों का दान-दक्षिणा आदि द्वारा वे सदा सम्मान करते रहते थे। उनकी दुकान पर जहाँ एक ओर ग्राहकों की अपार भीड़ रहती वहाँ दूसरी ओर कलाकारों और याचकों का समूह भी एकत्र रहता था। फलतः धन के अपव्यय का मार्ग भी खुला हुआ था। देवीप्रसाद जी के दूसरे पाँच भाई तो व्यापार में भी सहयोग नहीं देते थे; उनका जीवन यद्यपि दुकान की आय पर ही निर्भर था किन्तु उनका योगदान नगण्य था। व्यवसाय-व्यापार के माध्यम से घर के सांस्कृतिक वातावरण के कारण शैशव में ही बालक जयशंकर को नाना प्रकार के व्यक्तियों के प्रत्यक्ष परिचय का अवसर प्राप्त हुआ। श्री रायकृष्ण दास ने 'प्रसाद की याद' शीर्षक संस्करण में लिखा है कि—"देश में उस समय जितने प्रकार के भी 'टाइप' हो सकते थे, सबका कुछ न कुछ परिचय प्रसाद जी को घर बैठे मिलता। सीमाप्रान्त के सामान बेचने वाले मुगल और छुरी आदि बेचनेवाली यायावर ईरानी स्त्रियों से जिन्हें कहीं दुर्रानी या घाघरेवाली कहते हैं—लेकर नेपाल, भूटान के कस्तूरी बेचने वाले तक, तथा ज्योतिषी-पंडितों से लेकर पाखंडी और कापालिक तक, कौन ऐसा वर्ग या फिरका था जिसकी उस रंगमंच पर अवतारणा न होती रही हो ? इस प्रकार के विविध पात्रों की यदि तालिका बनाई जाय तो यह कई सौ की संख्या छू लेगी।

पारिवारिक वातावरण—प्रसाद जी के घर यह विभिन्न वातावरण जहाँ उनके सांसारिक अनुभव को आधार-शिला का काम दे रहा था वहाँ दूसरी ओर घर का धार्मिक तथा दार्शनिक वातावरण उनके चिन्तन-मनन के लिए सामग्री जुटाने की दिशा में सहायक था। इनका परिवार शुद्ध शैव मतावलम्बी था। काश्मीरी प्रत्यभिज्ञान-दर्शन की विचारधारा इस परिवार

में स्वीकृत चली आ रही थी जिसका गहरा प्रभाव प्रसाद की चिन्ता धारा पर पड़ा। साहित्यिक वातावरण का प्रभाव भी बालक प्रसाद ने अपने घर से ग्रहण किया। उस समय काशी में समस्या-पूर्ति की धूम थी। बालक प्रसाद ने शैशव में ही ब्रजभाषा में समस्या-पूर्ति की ओर अपनी अभिरुचि प्रकट की। भगवान् शंकर की प्रशंसा में प्रसाद ने नौ वर्ष की अल्पायु में एक सवैया बनाकर अपने गुरु श्री मोहिनी लाल गुप्त 'रससिद्ध' जी को सुनाया था जिसे सुनकर विस्मय-विमुग्ध होकर उन्होंने बालक प्रसाद को महाकवि होने का आशीर्वाद दिया था।

बालक प्रसाद की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा तो घर पर ही हुई थी किन्तु १० वर्ष की आयु में विधिवत् विद्याभ्यास करने के लिए आपको क्वींस कॉलेज में प्रविष्ट कराया गया। दो वर्ष ही आप पढ़ पाये कि १२ वर्ष की आयु में आपके पिताजी का देहान्त हो गया। पिताजी की मृत्यु के साथ ही आपके घर में अनेक प्रकार के झंझट उठ खड़े हुए। आपके बड़े भाई शम्भुरत्न जी ने कारोबार सम्हाला किन्तु पिताजी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद परिवार में मुकद्दमेबाजी प्रारम्भ हुई और लाखों रुपये नष्ट होने के बाद समस्त सम्पत्ति चार भागों में विभक्त कर दी गई। शम्भुरत्न जी और जयशंकर जी का एक ही भाग था। इसी बीच में इनकी माताजी का भी देहान्त हो गया। अब बालक प्रसाद के सिर पर उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न जी की ही छाया शेष थी। शम्भुरत्न जी ने प्रसाद को बड़े लाड़-प्यार से पाला। किन्तु दुर्भाग्य के प्रहार ने सत्रह वर्ष की आयु में प्रसाद जी से उनके ज्येष्ठ भ्राता को भी छीन लिया। शम्भुरत्न जी की असामयिक मृत्यु प्रसाद जी पर वज्र-प्रहार से कम न थी। अब तक प्रसाद जी निश्चिन्त रहकर जीवन यापन करते थे। किन्तु भाई की मृत्यु के साथ ही घरबार और व्यवसाय-व्यापार का पूरा दायित्व सुकुमार कंधों पर आ पड़ा। प्रसाद जी के सामने अब अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित थीं; व्यापार की देखभाल, भाई के समय का भारी ऋण, गृहस्थी को जमाने की चिन्ता और अपने अन्तर में आन्दोलित होनेवाली भावलोक की पुकार। इन सब विषम परिस्थितियों में युवक प्रसाद ने व्यापार, घरबार, काव्य-साहित्य, शरीर-स्वास्थ्य सब कुछ सम्हाला और बड़े कौशल के साथ कठिन परिस्थितियों का सामना किया।

इस समय तक प्रसाद जी का विवाह नहीं हुआ था। विवाह का दायित्व वहन करने के लिए माता-पिता जीवित नहीं थे; ज्येष्ठ भ्राता का भी देहावसान हो चुका था। प्रसाद को स्वयं यह दायित्व स्वीकार करना पड़ा और बीस वर्ष की आयु में गोरखपुर से अपना विवाह किया। दैवदुर्विपाक से पत्नी का दस वर्ष के बाद देहान्त हो गया अतः एक वर्ष बाद प्रसाद जी को दूसरा विवाह करना पड़ा। दूसरी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो प्रसूत काल में ही अपनी माता के साथ परलोक सिधार गया। दूसरी पत्नी के वियोग के बाद प्रसाद जी ने गया-यात्रा का कार्यक्रम बनाया और वहाँ से पुरी तक यात्रा करते हुये गए। इस यात्रा ने प्रसाद जी के मन में प्रकृति-वैभव के प्रति विशेष आकर्षण पैदा किया और काव्य के प्रति उनकी क्रियाशीलता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। *शैशव में मुण्डन के लिए प्रसाद जी झारखंड गये थे।* उस समय की यात्रा के पीछे धार्मिक संस्कार का प्रभाव था। दूसरे शब्दों में वह अबोध बालक की यात्रा थी। किन्तु गया की इस यात्रा में प्रसाद जी ने भुवनेश्वर, महोदधि तथा पुरी तक पर्यटन करके जिस प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण-पर्यवेक्षण किया था वह कवि प्रसाद के लिये अत्यधिक प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।

प्रकृति के विविध रूपों के सौन्दर्य की भावना कवि प्रसाद के काव्य में इन दृश्यों के साक्षात् दर्शन से मूर्त्तमन्त हुई और उनके परवर्ती काव्य में, जो छाया-वादी दृष्टि से श्रेष्ठतम काव्य समझा जाता है, इस भावना की अत्यन्त मनोरम छटा देखने में आती है। तीन-चार वर्ष के इस विधुर जीवन में प्रसाद जी ने सौन्दर्य का तात्विक चिन्तन किया और पुनः तीसरी बार देवरिया से अपना विवाह किया। इसी तीसरी पत्नी से उनके वर्तमान सुपुत्र श्री रत्नशंकर का जन्म हुआ। प्रसाद जी की एकमात्र सन्तान होने के कारण रत्नशंकर को अपने पिताजी के धन्धों में प्रारम्भ से ही सहायता देनी पड़ी।

प्रसाद जी को अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में [illegible] शैशव में जो दुलार-प्यार मिला था, किशोरावस्था आते ही उतना ही गुरुतर दायित्व भी उठाना पड़ा। नैसर्गिक भावनाओं से कवि होने पर भी लौकिक दायित्व के वहन करने में प्रसाद जी एक सद्गृहस्थ, काम-काजी, व्यवसायी और [illegible] प्रकृति के चिन्तनशील व्यक्ति थे। आश्चर्य है कि [illegible] के व्यापारी [illegible]

वृत्ति वाले इस महापुरुष ने कितने सन्तुलन के साथ जीविका के साधन और आत्माभिव्यंजन के माध्यम का तारतम्य बनाए रखा। कहाँ सुंघनी का व्यापार और कहाँ प्रेम और सौंदर्य की दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने की गूढ़-गंभीर प्रक्रिया ! यह देखकर लगता है कि प्रसाद जी सामान्य मानव से उच्चतर भूमि पर अवस्थित होकर ही यह सब कर सके; वे असाधारण कोटि के क्रान्तदर्शी कवि थे, विचारक थे, तत्त्व चिन्तक थे, प्रेमी और दार्शनिक थे।

शिक्षा-दीक्षा—प्रसाद जी की शिक्षा जिसे हम स्कूली शिक्षा के नाम से पुकारते हैं—बहुत ऊंचे दर्जे तक नहीं हुई थी। आरम्भ में उन्होंने अपने मुहल्ले की पाठशाला में ही अक्षर ज्ञान प्राप्त किया। श्री मोहिनीलाल गुप्ता उनके प्रारम्भिक गुरु थे, उन्हीं से प्रसाद जी ने ब्रजभाषा में कविता लिखने की प्रेरणा ग्रहण की थी। उसके बाद क्वींस कॉलेज में सातवीं श्रेणी तक नियत रूप से पढ़े किन्तु पिताजी की असामयिक मृत्यु हो जाने से कॉलेज की पढ़ाई बन्द हो गई। बालक प्रसाद के अन्तर में ज्ञान-पिपासा इतनी उत्कट थी कि वे नियमित शिक्षा के अभाव में भी अपने घर पर ही अध्ययन में लीन बने रहे। प्रारम्भ में उन्होंने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू भाषाओं का अच्छा ज्ञानार्जन किया। तदनन्तर संस्कृत के महाकाव्य, उपनिषद्, दर्शन, पुराण आदि के विधिवत पारायण में प्रवृत्त हुए। शैव दर्शन के प्रति गहरी रुचि होने के कारण पंडितों के सम्पर्क में रहकर आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की गूढ़ विचार-धारा से साक्षात् परिचय किया। अपने मुहल्ले के कायस्थ परिवारों के उर्दू-फारसी ज्ञाता व्यक्तियों से उर्दू शायरी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त करने में प्रसाद जी पीछे न रहे। श्री रायकृष्ण दास ने 'प्रसाद की याद' में लिखा है कि—"प्रसाद जी के मुहल्ले में—गोवर्धन सराय में—और उसके आस-पास कई प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल रहते थे, जिनमें उर्दू-फारसी की खासी चर्चा रहती थी। उनके कतिपय सदस्य तो उर्दू की कविता भी करते थे। इन परिवारों का प्रसाद जी के घराने से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस कारण प्रसाद जी को बचपन से उर्दू कविता की चाशनी भी चखने को मिला करती।"

यह भी एक संयोग की बात है कि प्रसाद जी के अनेक बाल-सखा भी कवि हृदय लेकर आये थे और उनकी काव्य-रुचि शैशव से ही व्यक्त होने लगी थी। भारतेन्दु जी के भ्रातुष्पुत्र स्वर्गीय ब्रजचन्द, श्री लक्ष्मीनारायण 'ईश',

विनोदशंकर व्यास आदि उनके बाल-सखाओं में से हैं जिनकी साहित्यिक रुचि बचपन में ही प्रकट हो गई थी। प्रसाद जी को शैशव में संस्कृत, हिन्दी और उर्दू की अनेक सूक्ति-सुभाषित कंठस्थ कराये गये थे। संस्कृत हिन्दी का कदाचित् कोई ही महाकवि होगा जिसकी कविता के अनेक सुन्दर स्थल प्रसाद जी को कंठ न हों। वार्तालाप के बीच वह प्रायः सुभाषितों का प्रयोग करके अपने शैशवाधीत ग्रन्थों का प्रमाण दिया करते थे।

कविता के अतिरिक्त प्रसाद जी के अध्ययन का एक दूसरा प्रिय विषय था पुरातत्त्व और इतिहास। वे सांस्कृतिक विषयों के तलस्पर्शी अध्ययन में रुचि रखते थे अतः इतिहास की सूक्ष्म ग्रन्थियों को खोलने के लिये केवल घटनाओं के तथ्यात्मक रूप का ही अध्ययन करके नहीं छोड़ते थे वरन् तात्त्विक दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में आनन्द लेते थे। घटनाओं का आधार बाह्य संघर्ष मात्र नहीं होता; आन्तरिक द्वन्द्वात्मक संघर्ष से बाह्य घटनाएँ उत्थित होती हैं अतः उनके आभ्यन्तर में प्रविष्ट होने के लिए तत्त्व-चिन्तन अनिवार्य है। भारत के अतीत इतिहास का अनुशीलन ही उनके नाटकों में प्रतिफलित हुआ है। प्रसाद जी के नाटकों में इतिहास का आधार सांस्कृतिक संघर्ष है। वे संस्कृति, सभ्यता, धर्म, नीति, दर्शन और विचारधारा के अवगाहन द्वारा ही इतिवृत्त को पल्लवित करने के पक्षपाती थे। घटनाओं का स्थूल रूप उन्हें कभी आकृष्ट नहीं कर सका।

दार्शनिक चिन्तन-मनन के लिए और गहन अध्ययन के लिए प्रसाद जी अवकाश कैसे निकाल पाते थे यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी दिनचर्या में अध्ययन तथा साहित्य-सृजन को सबसे प्रथम और प्रमुख स्थान था। ब्राह्म-मुहूर्त्त में शैया त्यागकर साहित्य-सृजन में लीन हो जाना उनका अभ्यास हो गया था। प्रातःकालीन भ्रमण को भी प्रसाद जी ने अध्ययन के बाद स्थान दिया था। जब अध्ययन एवं साहित्य-सृजन का कार्य पूर्ण हो जाता, वे बेनिया बाग में टहलने निकल जाते। वहाँ भी साहित्यिकों के साथ वार्तालाप करते थे। काव्यशास्त्र उनका विनोद-साधन था; उनके लिए वे समारोहों में जाना आवश्यक नहीं समझते थे। समारोहों में सभापति बनना या भाषण देकर साहित्य साधना करना उन्हें कभी नहीं रुचा, फलतः वे कभी किसी समारोह में भाग लेने या भाषण देने नहीं गये। प्रातःकालीन मित्र-गोष्ठी में वे [illegible] के साथ वे दो

घन्टे तक अपने व्यापार-व्यवसाय का निरीक्षण करते। इस प्रकार आत्मिक एवं आर्थिक लाभ के बाद उनका शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ की ओर ध्यान रहता। नित्य नियमित रूप से तेल-मालिश, व्यायाम आदि करते थे। प्रसाद जी की शरीर सम्पत्ति उनके नियमित रूप से व्यायाम का ही फल थी। दोपहर को १२ बजे भोजन करके दो घन्टे नित्य विश्राम करते। इस नियम में कभी व्याघात नहीं होता। मध्याह्नोत्तर तीन बजे से पुनः अपने कारोबार की देख-रेख तथा व्यावसायिक पत्रों के उत्तर लिखते। सायंकाल फिर ७ बजे के लगभग दुकान पर पहुँचते। वहाँ रात को ९ बजे तक ठहरते। इस बीच दुकान पर साहित्यिक विचार-गोष्ठी भी जमती। अनेक मित्र प्रसाद जी के पास आकर विविध विषयों पर बातचीत करते रहते। व्यवसाय और साहित्य का यह संगम काशी में ही देखने में आता था। मित्रमण्डली की गपशप समाप्त होने पर प्रसाद जी लगभग १० बजे रात्रि में घर पहुँचते और भोजन से निवृत्त होकर सो जाते थे।

शील स्वभाव—प्रसाद जी के जीवन के बाह्य पक्ष पर दृष्टिपात करने पर जो बात हमारे सामने सबसे प्रमुख रूप से आती है वह, है उनकी शान्त, संयत दिनचर्या। इस दिनचर्या में न तो कहीं धूमधाम के स्थान हैं और न कहीं विज्ञापन की ओर कोई ध्यान है। लौकिक विज्ञापन से सर्वथा दूर रहकर आत्म-सुख की खोज करनेवाले प्रसाद जी संसार से दूर नहीं दिखाई देते। गृहस्थी और व्यापार उनकी लौकिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं किन्तु चिन्तन-मनन उनकी आभ्यन्तर निवृत्ति का भी संकेत देते हैं। प्रसाद जी का जीवन संयत था, प्रलोभनों से परे था किन्तु संसार के विविध कर्त्तव्यों से पराङ्मुख वे नहीं थे। उपनिषद् और गीता दोनों का समवेत रूप ही प्रसाद जी की दिनचर्या में प्रतिफलित हुआ था। एक महान् कलाकार का लौकिक जीवन लोक प्रवृत्ति के उच्च स्तर पर कर्म को स्वीकार करके किस प्रकार अवदात और उदात बनता है यह प्रसाद जी के जीवन में देखा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि प्रसाद जी अपने पैतृक व्यवसाय के पूरे पारखी और जानकार थे। उन्हें इत्र-फुलेल बनाने की विधि, सुंघनी निर्माण की कला और तम्बाकू के गुण-दोष की पूरी पहचान थी। अपने बड़े भाई की मृत्यु पर उन्हें अपनी दुकान पर ऋण-भार मिला था जिसे उन्होंने अपने पुरुषार्थ से उतारा और ऋण-मुक्त होकर व्यापार का समुचित संगठन किया।

प्रसाद जी का शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन और ज्ञान असाधारण था,

अनेक धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ तो सतत पारायण करने के कारण उन्हें कंठस्थ हो गये थे। उपनिषद् और शैव दर्शन उनके प्रिय विषय थे जिनका अध्ययन वे नियमित रूप से करते थे। प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन की उनकी अपनी विशिष्ट परिपाटी थी, वे टीका और भाष्यों को मूल ग्रन्थ के समझने के लिए अन्तिम वाक्य नहीं मानते थे। अतः अपनी प्रतिभा से मौलिक अर्थ करने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। दर्शन के विषय में तो उनकी अपनी व्याख्याएँ थीं जिसकी चर्चा वे अपने साहित्यिक मित्रों से प्रायः करते थे और उनकी नूतन व्याख्याओं की सभी लोग सराहना करते थे। कामायनी में उन्होंने अनेक दार्शनिक मतदाताओं को जो रूप दिया है वह उनकी स्वतन्त्र चिन्तन शैली का ही निदर्शन है।

किसी कलाकार के कृतित्व को समझने के लिए उसके व्यक्तित्व से परिचित होना भी आवश्यक है। प्रसाद जी के व्यक्तित्व का परिचय अनेक दृष्टियों से केवल मनोरंजक ही नहीं शिक्षाप्रद भी है। प्रसाद जी अत्यन्त सौम्य, शान्त एवं गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। जीवन के प्रभात से ही उन्हें संघर्ष का सामना करना पड़ा था किन्तु संघर्षों की दुनिया में रहते हुए भी वे सदैव हँसते रहे। उन्हें क्रोध करते प्रायः नहीं देखा गया। स्वयं किसी की चाटुकारी कभी नहीं की। यदि कोई उन्हीं के प्रति चाटुकारी भरी बातें करता तो वे उसे बन्द कर दिया करते। श्री विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद और उनका साहित्य' में लिखा है कि प्रसाद जी परनिन्दा और आत्म-स्तुति दोनों से सदा दूर रहते थे। जो लोग प्रसाद साहित्य की खण्डनात्मक आलोचना लिखते, उनका भी कभी उन्होंने उत्तर नहीं दिया और अपने मित्रों को भी वितंडावाद में पड़ने से सदा रोकते रहे। संकोची और शान्त वृत्ति होने पर भी अपने बड़प्पन का मिथ्या प्रदर्शन उनके स्वभाव में नाम मात्र को भी नहीं था। साधारण व्यक्ति भी उनके घर जाकर उनसे मैत्रीपूर्ण सम्भाषण का लाभ उठा सकता था। वे सदैव घर आये मेहमान का सम्मान करना और उसकी रुचि का ध्यान रखना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे।

संकोचशील होने के कारण सभा-सोसाइटी में जाना उनके स्वभाव के विपरीत था। काशी में भी तीन-चार मित्रों को छोड़ वे किसी के यहाँ प्रायः आते-जाते नहीं थे। व्यास जी ने उनकी संकोची वृत्ति का सरस परिचय दिया है।

कविता-पाठ के लिए सम्मेलनों में जाना तो उनकी प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल था। दुकान पर बैठे हुए या कभी मित्रों के यहाँ छपी हुई कविताओं का साधारण तौर से पाठ कर लिया करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव स्मारक समारोह के अवसर पर उन्होंने सार्वजनिक रूप से 'नारी और लज्जा' शीर्षक कविता का पाठ किया था।

विनोद और रुचि—इतना व्यस्त जीवन व्यतीत करने पर भी वे मनोविनोद के लिए समय निकाल लेते थे। घर में बागवानी, शतरंज, कविता-पाठ और कभी-कभी सिनेमा देखना उनके विनोद के साधन थे। विशाल संसार ही उनकी खुली पुस्तक थी जिसका वे सतत अध्ययन करते रहते थे। यों जगत् के भौतिक रूप में लिप्त रहना उन्हें विशेष प्रिय न था। प्रसिद्ध है कि गोवर्धन सराय मुहल्ले से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से गोवर्धन सराय यही उनके संचरण की परिधि थी। इस सीमित परिधि में घूमकर भी वे जगत् और जीवन की व्यापक परिधि को अपने प्रातिभ ज्ञान से समझ सके थे, यही उनकी क्रान्तदर्शिता थी।

कवि-हृदय होने के साथ सौन्दर्य-प्रेम उन्हें विरासत में मिला था। ललित कलाओं में उनकी गहरी रुचि थी। संगीत के प्रति उनकी अभिरुचि का यह प्रमाण है कि वे गान-विद्या का आनन्द प्राप्त करने काशी की सुप्रसिद्ध गयिकाओं के यहाँ भी जाते रहते थे। श्री विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद का जीवन और साहित्य' पुस्तक में प्रसाद जी के सौन्दर्य एवं कला-प्रेम का अच्छा विवरण दिया है। संगीत कला के साथ मूर्तिकला और चित्रकला के प्रति भी उनका प्रेम था और इन कलाओं के पुरातन प्रतीक उनकी जिज्ञासा एवं कुतूहल के विषय बने रहते थे। सारनाथ के संग्रहालय में प्राचीन बौद्ध मूर्तियों के अध्ययन में प्रसाद जी ने अपनी निष्ठा का परिचय दिया था। प्राचीन भग्नावशेषों को देख कर उनके अन्तर्मन में वे दृश्य साकार हो जाते जिनकी स्मृति उन ध्वंसावशेषों में तिरोहित हैं। प्रसाद जी ने सारनाथ के बौद्ध स्तूपों तथा अकबर की बनवाई अठमहल गुमटी से अपने काव्य की प्रचुर सामग्री एकत्र की थी। वसुधा के अंचल पर प्रकृति के जो रमणीय दृश्य बिखरे पड़े हैं उनमें स्रष्टा की लीला और विलास को देखना ही कवि प्रसाद को अभीष्ट था। प्रकृति-प्रेम की आधार-शिला तो उनकी शैशव की यात्रा से ही रखी गई थी किन्तु उसके बाद उन्होंने प्रकृति के मर्म को समझने में ही अधिक समय लगाया।

खान-पान में निरामिष आहार ही उन्हें प्रिय था। मांस-मदिरा से दूर रहकर सात्विक किन्तु पौष्टिक भोजन पसन्द करते थे। भोजन बनाने का भी आपको अच्छा ज्ञान था, जब कभी बाहर बगीची में 'पिकनिक' (सैर) के लिये जाते स्वयं भोजन बनाते और तरह-तरह की शाक-तरकारियां बनाकर मित्रों को खिलाते थे। ठंडाई और बादाम भी उनकी खुराक के खास अंग थे।

सात्विक वृत्ति का जीवन व्यतीत करने के कारण प्रसाद जी का शील-सदाचार भी बहुत उच्चकोटि का था। उन्होंने जब अपने व्यवसाय का दायित्व सम्हाला था, दुकान ऋणग्रस्त थी, स्वयं अनुभवहीन किशोर थे, प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ था किन्तु सब प्रकार के प्रलोभनों से दूर रहकर उन्होंने जीवन नौका को बड़े साहसपूर्वक खेना शुरू किया। किसी भी स्थिति में वे डांवाडोल नहीं हुए और अन्त में सफलतापूर्वक अपनी नौका को किनारे लगाया। अपनी हानि उठाकर भी वे दूसरों के हित-साधन में सदैव तत्पर रहते थे। जिस प्रकार काव्य में ममता और करुणा उनके प्रिय विषय थे उसी प्रकार जीवन में भी मानवता से परिपूर्ण स्नेह, ममता, करुणा और दया-भाव उनके चिर सहचर थे। आर्थिक प्रलोभनों से वे सदा ऊपर रहे। जिस प्रकार विज्ञापनबाजी से अर्जित ख्याति उन्हें प्रिय नहीं थी वैसे ही पुरस्कार आदि से प्राप्त धन-राशि को वह अपने निजी उपयोग में नहीं लेते थे। हिन्दुस्तानी एकादमी और नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त पुरस्कार-राशि को सभा को दान देकर उन्होंने अपनी निस्पृहता का परिचय दिया था।

प्रसाद जी के जीवन में भारतीय संस्कृति का सजीव रूप देखा जा सकता है। प्राचीन परम्पराओं को उन्होंने उसी सीमा तक स्वीकार किया था जिस सीमा तक उनमें सांस्कृतिक गौरव-गरिमा की छाप थी। केवल अन्ध-विश्वास या गतानुगतिक परम्पराओं की रूढ़िवादिता उन्हें कभी आकृष्ट नहीं कर पाई थी। उनका बाह्य शारीरिक रूप जितना सुन्दर और आकर्षक था उनके संस्कारी मन और सुसंस्कृत आत्मा में भी उतना ही प्रखर आकर्षण था। मानव को सृष्टि का श्रेष्ठतम जीव मानने के कारण मानवात्मा के उत्थान और अभ्युदय के लिए उन्होंने अपने काव्य साहित्य द्वारा जो महान् आयोजन किया वह किसी भी धार्मिक आयोजन से बढ़कर एवं श्रेष्ठ है। उनकी साहित्य-साधना मानव-समाज के कल्याण की ही पुनीत भावना लिये आई थी। जीवन

के संघर्षों से उन्होंने स्वप्न में भी पलायन नहीं किया, कल्पना-लोक में रहते हुए भी वास्तविकता को क्षण भर के लिए तिलांजलि नहीं दी और शिवभक्त होने के नाते संसार के गरल को स्वयं पीकर जगत् को सदैव अमृत ही पिलाते रहे।

महाकवि प्रसाद की जीवन-धारा के आजीवन तीन प्रवाह रहे—व्यवसाय, गृहस्थ और साहित्य। व्यवसाय की देख-रेख को वे सदा जागरूक रहकर करते थे, गृहस्थाश्रम की मर्यादा का पालन भी उन्होंने सदा भारतीय मर्यादाओं के अनुसार किया और शेष समय में आत्मसुख के लिए साहित्य-सृजन करके वे साहित्य की अतुल निधि छोड़ गये।

देहावसान— प्रसाद जी की स्वास्थ्य-सम्पत्ति सामान्यतः बहुत समृद्ध थी। नियमित रूप से व्यायाम करने तथा तेल-मालिश आदि की सावधानी रखने के कारण उनका मुखमण्डल सदा तेज और वर्चस्व से देदीप्यमान रहता था। सुन्दर स्वास्थ्य के होते हुए भी वे दीर्घायुष्य प्राप्त नहीं कर सके, यह भारत देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। संवत् १९९३ में प्रसाद जी को जाड़ा-बुखार हुआ। प्रारम्भ से इस ज्वर को साधारण मलेरिया समझा गया और उसी ज्वर की चिकित्सा भी होती रही किन्तु शीत ऋतु से जब हल्की-हल्की खाँसी भी प्रारम्भ हुई तो मित्रों को कुछ चिन्ता हुई। दुर्भाग्य से उस समय भी रोग का समुचित निदान न हो सका और प्रसाद जी के उदर-शूल रहने लगा। उसी वर्ष जाड़ों में प्रसाद जी लखनऊ प्रदर्शिनी देखने गये और वहाँ से लौटकर फिर रोग ने जब पकड़ा तो ठीक-ठीक निदान करने पर तपेदिक का पता चला। संवत् १९९४ के प्रारम्भ में चिकित्सा की व्यवस्था में परिवर्तन होने पर कुछ स्वस्थ हुए किन्तु बरसात आते ही फिर शैयारूढ़ हो गए और इस बार उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता ही गया। चिकित्सकों का आग्रह था कि प्रसाद जी किसी पर्वतीय स्थान पर चले जावें तो स्वास्थ्य-सुधार सम्भव है किन्तु प्रसाद जी विश्वनाथ की पुरी छोड़कर कहीं बाहर जाने को तैयार नहीं हुए। इसी बीमारी में उन्हें चर्म-रोग हो गया और उनका शरीर सूखता गया। इस भयंकर बीमारी में होम्योपैथिक चिकित्सा का आश्रय लिया गया, क्योंकि एलोपैथिक की औषधियों के प्रति प्रसाद जी की धारणा थी कि उनमें अनेक ऐसे पदार्थ रहते हैं जो धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति को ग्राह्य नहीं हो सकते। बीमारी असाधारण थी, कष्ट भी अपनी सीमा का अतिक्रमण कर चुका था।

किन्तु उन दिनों भी प्रसाद जी अपनी साहित्य-साधना से विरत न थे। 'इरावती' उपन्यास प्रारम्भ कर रखा था। एक और उपन्यास की रूपरेखा उनके मस्तिष्क में थी और 'कामायनी' के समान ही अन्य महाकाव्य लिखने की उनकी उत्कट इच्छा थी। कहते हैं कि 'कामायनी' तो उसी महाकाव्य का एक अंश है जिसे प्रसाद जी विशाल रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु 'मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और' के अनुसार प्रसाद जी की समस्त योजनाएँ विधाता के विधान के आगे कहाँ सफल हो सकती थीं। संवत् १९९४ की कार्तिक शुक्ल एकादशी को शाम को साढ़े चार बजे महाकवि प्रसाद ने काशी में अपनी इहलोक लीला संवरण की। शिव के परम उपासक, अमर काव्य-प्रणेता युग-पुरुष ने इस संसार को सदा के लिए छोड़ दिया।

प्रसाद जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में महाकवि निराला की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--

"किया मूक को मुखर, लिया कुछ दिया अधिकतर।
पिया गरल पर किया जाति साहित्य को अमर।"

: २ :

प्रसाद का प्रारम्भिक काव्य और खड़ीबोली काव्य-क्षेत्र में प्रवेश

प्रसाद जी ने जिस युग में काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया वह काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से विख्यात है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा हिन्दी में भाषा विषयक एक नवीन क्रान्ति को जन्म दिया था। प्राचीन परिपाटी की ब्रजभाषा-कविता के प्रति विद्रोह का स्वर हिन्दी-संसार में बड़े प्रखर रूप में गूँज रहा था। ब्रजभाषा-विद्रोह के इस युग में एक ऐसा भी कवि-समुदाय था जो अभी तक ब्रजभाषा की रीतिकालीन परम्पराओं के प्रभाव में ही काव्य रचना करने में आनन्द का अनुभव करता। ऐसे कवियों का सम्मेलन काशी में होता था और काशी में अभी तक खड़ीबोली के पैर नहीं जमे थे। प्रसाद जी को हिन्दी कविता का परिचय ब्रज-अवधी के द्वारा हुआ था। शैशव में ब्रजभाषा के भक्ति एवं रीतिकालीन कवियों की सरस कविताएँ ही उन्होंने पढ़ीं और याद की थीं अतः उनके प्रति सहज आकर्षण होना स्वाभाविक ही था। शृंगार रस से परिपूर्ण, समस्या-पूर्तियों की जो परम्परा रीति काल से भारतेन्दु काल तक सतत प्रवाहित होती आ रही थी उसी को काशी के परवर्ती कवियों ने भी ग्रहण किया था। फलतः प्रसाद जी के सामने ब्रजभाषा कविता का माधुर्य अपने पूर्ण यौवन में उपस्थित था, उसे त्यागकर खड़ीबोली के नीरस और इतिवृत्तात्मक काव्य को वे कैसे स्वीकार करते। प्रसाद जी के निसर्ग सिद्ध कवि होने की एक घटना प्रसिद्ध है; जबकि वे केवल नौ वर्ष की अल्पायु के बालक ही थे तभी उन्होंने चित्रकूट, ओंकारेश्वर, धारा क्षेत्र, मथुरा, उज्जैन आदि तीर्थ-स्थलों की यात्रा से लौटकर 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में एक सुन्दर

सवैया बनाकर अपने गुरु रससिद्ध जी को सुनाया था। वह सवैया इस प्रकार है—

"हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहुँ, सेसन पावत पारे,
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज 'कलाधर' ताहि छिनो विच तारे।
तारेन की गिनती सम नाहि, सुजेते तरे प्रभु पापी विचारे,
चारे चले न विरंचिहु के जो, दयालु ह्वै शंकर नेंकु निहारे।"

इस छन्द के काव्य-सौष्ठव की समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। ब्रजभाषा-सौन्दर्य के पारखी के लिए इसका प्रत्येक पद और कवि की आयु विस्मय का विषय बनकर रह जाता है। शिवोपासक बालक प्रसाद की निष्ठा का भी इस पद में पूर्ण परिपाक हुआ है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में प्रसाद ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया किन्तु उनकी काव्य-साधना का प्रारम्भिक स्वर 'भारतेन्दुकालीन' ही था और रीतिकालीन कवियों की परम्परा युक्त शैली को ही उन्होंने स्वीकार किया हुआ था।

कवि-जीवन प्रारम्भ करने में जिन व्यक्तियों से प्रसाद ने प्रेरणा ग्रहण की थी वे सभी ब्रजभाषा की रीतिकालीन परिपाटी के समर्थक थे और भारतेन्दुयुगीन समस्या पूर्ति वाली शैली के सिद्ध कवि माने जाते थे। रीवां-निवासी श्री रामानन्द, मुंशी कालिन्दीप्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र ईन, आदि सभी मित्र ब्रजभाषा में रुचि रखते थे। प्रसाद जी की ब्रजभाषा की रचनाएँ चित्राधार में संकलित हैं। उन्हें पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि रीतिकालीन शृंगार-भावना से अनुप्रेरित संयोग-वियोग की उत्तम दशाओं का वर्णन करना ही प्रसाद जी को अभीष्ट था। प्रसाद जी को ब्रजभाषा के सुन्दर कवित्त-सवैये अत्यधिक मात्रा में कंठस्थ थे और वे कहा करते थे कि ब्रजभाषा का माधुर्य प्रारम्भ में उनकी काव्य-प्रेरणा का सहायक हुआ था। 'चित्राधार' के पराग शीर्षक खंड में संकलित कविताओं का पारायण करने पर यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी के भाव तथा भाषा विषयक प्रारम्भिक संस्कार रीतिकालीन ब्रजभाषा के ही थे। इन कविताओं के विषय रीति-काल से कुछ स्वतन्त्र विभिन्न भाव-भूमि पर गये हैं जैसे, '[illegible]', '[illegible] गुरु', 'मानस', 'शारदीय शोभा', 'विनय', 'रसाल', '[illegible]', '[illegible]',

'विस्मृत प्रेम' आदि। किन्तु अभिव्यंजना में कोई नवीनता नहीं है। भारतेन्दु-युग में विषय-वस्तु की परिधि व्यापक होने लगी थी, उसी को प्रसाद जी ने भी ग्रहण किया था।

जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि जिस युग में प्रसाद जी कविता लिखने में प्रवृत्त हुए वह समस्या-पूर्त्ति की परिपाटी का युग था। काशी में समस्या-पूर्त्ति का केन्द्र भारतेन्दु मंडली में रहा और भारतेन्दु जी के देहान्त के बाद भी वह परम्परा अखंड रूप से चलती रही। 'चित्राधार' में प्रसाद जी की कुछ समस्या-पूर्त्ति वाली रचनाएँ संगृहीत हैं जिन्हें पढ़कर भारतेन्दु युगीन ब्रजभाषा-कविता का चित्र साकार हो उठता है। 'मकरन्द विन्दु' में प्रायः समस्या-पूर्ति और पदशैली की रचनाएँ हैं। समस्या-पूर्त्ति के दो-चार सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"कौन भ्रम भूलि कै भ्रमत चलिजात कितै
कितै जनि देहु रजनी को, चित्त धारिये।
कविते तिहारी आस लाय एकटक यह,
रूप सुधा प्यासी तासु प्यास निखारिये॥
राखै परवाह ना सराह की तिहारी सौ हैं,
लखत 'प्रसाद' कौन प्रेम अनुसारिये।
चित्त चैन चाहत है, चाह में भरी है, चेति,
चैत चन्द नेक तो चकोरी को निहारिये॥"

श्रृंगार की एक समस्या-पूर्त्ति है—"वेगि प्रान प्यारे नेक कंठ सों लगाओ तो।' इस समस्या-पूर्त्ति के निमित्त प्रसाद जी ने तीन सुन्दर कवित्त लिखे हैं—

पुलकि उठे हैं रोम रोम खड़े स्वागत को
जागत है नैन वरुनी पै छवि छाओ तो।
मूरति तिहारी उर अन्तर खड़ी है तुम्हैं
देखवे के हेतु ताहि मुख दरसाओ तो॥
भरिकै उछाह सों उठै हैं भुज मेटिवे को
मेटिवे कौ ताप क्यों 'प्रसाद' तरसाओ तो।
हिय हर खाओ प्रेम रस बरसाओ, आओ
वेगि प्रान प्यारे नेक कंठ सों लगाओ तो॥

फेर में पड़ना ठीक नहीं है। प्रसाद जी उस समय तो भाई के आदेश को मान लेते किन्तु अन्तरात्मा की प्रबल प्रेरणा के कारण फिर काव्य-सृजन में लीन हो जाते। इस प्रकार उनका प्रारम्भिक काव्य प्रणयन एक प्रकार संघर्ष का ही फल है। प्रसाद जी जब कभी दुकान पर अकेले होते बही के पन्नों पर ही घनाक्षरी, कवित्त, सवैये आदि लिखते रहते। दुकान से लौटकर घर पर भी बहुत देर तक कविता लिखने में व्यस्त रहते। बाद में तो उन्होंने ब्राह्म मुहूर्त को अपनी अध्ययन वेला बना लिया था।

प्रसाद जी के कवि रूप का विकास 'इन्दु' पत्रिका द्वारा हुआ। द्विवेदी-युग में भाषाविषयक जो आन्दोलन चल रहा था और कविता को जिस साँचे में ढालने का प्रयत्न पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कर रहे थे, प्रसाद जी उनके साथ सहमत न थे। यही कारण था कि उस समय की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' में प्रसाद जी की रचनाओं को स्थान नहीं मिला। फलतः प्रसाद जी ने अपनी रुचि के अनुसार 'इन्दु' का प्रकाशन कराया। इस पत्रिका का समस्त दायित्व उन्होंने अपने भानजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त को सौंपा और स्वयं उसमें लिखते रहे। 'इन्दु' में उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। बाद में वे 'चित्राधार' में संकलित करके पुस्तकाकार में सामने आईं। 'चित्राधार' के पराग खंड में संगृहीत कविताओं का प्रमुख विषय प्रकृति है। प्रकृति के सम्बन्ध में प्रसाद जी का प्रेम इन कविताओं में मुखर हो रहा है।

'चित्राधार' की कविताओं में तीन आख्यानक कविताएँ भी हैं, उनका अनुशीलन द्विवेदी-युगीन कथा-प्रवृत्ति का परिचायक है। 'अयोध्या का उद्धार' रघुवंश के सोलहवें सर्ग पर आधृत आख्यानक कविता है, जिसमें कथा-वर्णन शैली का चमत्कार और ब्रजभाषा की छटा देखने में आती है। कवि प्रसाद ने अयोध्या के उद्धार के विषय में कालिदास की मान्यता को स्वीकार कर कुश द्वारा ही उसका उद्धार वर्णित किया है। इस कविता की भाषा में ब्रजभाषा का नया रूप—जिस प्रकार वर्तमान रूप में खड़ीबोली की दशा पहले नहीं थी—दृष्टिगत होता है—

"कुश धाम रजनीश यामिनी
पहुनाइ विरहानि कामिनी।

निज शान्ति सुराज्य थापि के,
शशि की आज बनी जु भामिनी।
विमल विधु कला की कान्ति फैली भली है,
सुललित बहुतारा हीर-हारावली है।
सरवर जलहूँ में चन्द्रमा मन्द डोलै,
वर परिमल पूरी पौन कीन्है कलोलै।"

दूसरी कविता "प्रेम राज्य" का आधार एक ऐतिहासिक घटना है। इस कविता के शृंगार और वीर रस का अच्छा संचार हुआ है। भाषा ब्रज होते हुए भी खड़ीबोली के प्रभाव से बच नहीं पाई है। वर्णनात्मक शैली की छाप भी अत्यन्त गहरी है। हाँ, तत्सम शब्दों की ओर कवि का झुकाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है। एक उदाहरण देखिए —

"सिंह द्वार पर खड़े, नरेश लखैं सेना को,
बाँधि पराजे यूथप, संग घेरैं बहुना को।
सेनापति सह सैन्य, युद्ध भूमिहि चलि दीन्हो,
पाँच वर्ष को बालक, इक आगमन सुकीन्हो॥
चन्द्रोज्वल मुख मधुर, विमल हाँसी को धारत,
सहज सलोनें अंग, मनोहर ताहि सँवारत।
तब नरेश निज सुत के मुख सुख में अति पागे।
हिये लाइ आनन्द सहित, मुखन लागे चूम॥"

'वनमिलन' कविता की प्रेरणा कवि प्रसाद को कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक से मिली थी। इस कविता का प्रवाह भी कालिदास की शैली के अनुरूप है। कतिपय स्थलों पर कालिदास की सरस पदावली का प्रभाव स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। तत्सम शब्दों की भरमार से ब्रजभाषा का नैसर्गिक रूप नष्ट हो गया है। वर्णनात्मक वस्तु के प्रभाव ने कविता को विहीन कर दिया है। हाँ, केवल दृश्य या वस्तु के अंकन में कवि ने अपनी कल्पना और प्रतिभा का अच्छा प्रयोग किया है। द्विवेदी-युगीन नीरस इतिवृत्तात्मक शैली से प्रसाद जैसा महाकवि भी अपने को सर्वथा बचा नहीं पाया है। क्रिया-पदों को छोड़कर समस्त शब्दावली में ब्रजभाषा का कोई माधुर्य नहीं—

"अरुण विभा विलसित हिम-शृंग मुकुटवर छाजत,
मालिनि मन्द प्रवाह सुखद-सुदुकूल विराजत,
तरुगन राजि कतहुँ मरकत हारावलि लाजै,
साँचहु भूधर नृपति समान हिमालय राजै।"

शकुन्तला नाटक का अप्रत्यक्ष प्रभाव नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रसाद जी अनुवाद नहीं कर रहे हैं बल्कि अपनी भावनाओं को कालिदास के अनुरूप रखने में उसी पदावली को ग्रहण करते चले जाते हैं—

"वह लतिका तरु वीरुध, जे मम बाल सनेही,
तिनको सिंचन करहु, अहै तुव कारज एही।
यह अशोक को पादप, जामे किसलय कोमल,
औरहु परम रसाल लखहु कसना कदम्ब भल।"

चित्राधार की कविताओं की भाषा ब्रज है किन्तु उस पर नवीनता का प्रभाव है। रीतिकालीन परम्परा के कारण प्रसाद जी किसी बहुत नवीन विषय को तो इसमें स्वीकार नहीं कर सके किन्तु जो चेतना भारतेन्दु-युग में उत्पन्न हुई थी उसे प्रसाद ने ब्रजभाषा के अपने प्रारम्भिक काव्य में आगे अवश्य बढ़ाया किन्तु साथ ही साथ प्रसाद जी का अन्तर्मन ब्रजभाषा की अभिव्यंजना और विषय-वस्तु को छोड़ने के लिए व्याकुल हो उठा।

'प्रेम-पथिक' काव्य भी पहले प्रसाद जी ने ब्रजभाषा में लिखा था। इसमें प्रेम का जो स्वरूप कवि ने खड़ा किया है उसका आधार श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' नामक रचना है। रचना का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

"छाड़ि कै अभिराम अति सुरधाम चारु प्रदास।
पथिक इक कीन्हो गमन सुप्रवास को अभिराम॥"

खड़ीबोली काव्य का प्रारम्भ—ब्रजभाषा में प्रसाद जी का मन चिर-काल तक नहीं रम सका और वे खड़ीबोली में रचना करने में प्रवृत्त हुए। तीन वर्षों की साधना के बाद उन्होंने खड़ीबोली को ही [illegible] का माध्यम बना लिया। 'कानन कुसुम' प्रसाद जी की खड़ीबोली की कविताओं का प्रथम संग्रह है जिसमें भावों की नवीनता के साथ कवि ने [illegible] की भाषा भी [illegible] रखी है। 'करुणालय' नाटक-शैली की पहली कविता है [illegible] इसे [illegible] नहीं भी जानी चाहिए। इस [illegible] का खड़ीबोली [illegible] में [illegible]

महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुकान्तविहीन मात्रिक छन्द का प्रयोग करके प्रसाद जी ने एक नूतन पथ का संकेत किया। इसके बाद महाराणा का महत्त्व, प्रेम-पथिक (खड़ीबोली में परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्तहीन हिन्दी रूप), प्रेम-दर्शन आदि आख्यानक कविताओं द्वारा प्रसाद जी ने खड़ीबोली काव्य को समर्थ बनाने की दशा में बड़ा सफल परीक्षण किया।

प्रसाद जी ने 'आँसू' शीर्षक से एक विरह काव्य की सृष्टि करके छायावादी कविता के क्षेत्र में नई दिशा या नये युग का प्रवर्तन किया। आख्यानक कविताओं की सृष्टि से पहले ही प्रसाद जी ने इसकी रचना प्रारम्भ कर दी थी किन्तु इसका यथार्थ रूप बाद का ही है। 'आँसू' एक सौ नव्वे छन्दों का लघु काव्य है जिसका विषय प्रेमानुभूति, विरह, अतीत की मधुर स्मृति कहा जा सकता है। कवि के अन्तर में मधुर अतीत की शत-शत स्मृतियाँ उभर-उभर कर आ रही हैं और वह व्याकुल होकर उनकी अनुभूति में लीन होना चाहता है। प्रेम की परिपक्व दशा के साथ एक साथ जीवन-सागर में परिवर्तन हुआ। जीवन की आशा-आकांक्षाएँ बदल गईं। कवि ने प्रेम, विरह, आनन्द, पुलक आदि विविध भावों का बड़ी मार्मिकता के साथ वर्णन किया है—

"शशि मुख पर घूँघट डाले
अँचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।"

'आँसू' के दार्शनिक पक्ष को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कोई इसे सूफ़ी कवियों की प्रेम परम्परा के समीप मानता है जिसके द्वारा रहस्यवाद का निर्माण होता है; कोई इसे लौकिक पक्ष प्रधान काव्य स्वीकार करता है। किसी के मत में 'आँसू' प्रसाद के अन्तरतम का छायाचित्र है। प्रसाद ने हृदय को प्रधान मानकर इस काव्य का प्रारम्भ किया और क्रमशः बुद्धि का भी योग देते गए। प्रकृति-सौन्दर्य को भी आँसू के निर्माण में सहायक बनाया गया है। जीवन के प्रति 'आँसू' नैराश्य या विलास तक ही समाप्त नहीं होता अतः इसे स्वस्थ जीवन-दर्शन पर आधृत काव्य माना जाता है। 'आँसू' के व्याज से कवि ने मानव-हृदय की समस्त करुणा, ममता, सहानुभूति और संवेदना अंकित करके

का अवसर निकाल लिया है। 'आँसू' में ही कवि की उपज्ञात प्रतिभा के दर्शन हो जाते हैं।

कला की दृष्टि से 'आँसू' का स्तर उस समय तक की खड़ीबोली कविता में विशिष्ट ही मानना होगा। कल्पना तत्त्व को ग्रहण कर प्रतीक शैली में ऐसी प्रौढ़ रचना उस समय तक नहीं हुई थी। 'आँसू' एक गीतिकाव्य है जिसमें स्वानुभूति की कल्पना के माध्यम से पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति हुई है। अनुभूति की तन्मयता इस कोटि तक पहुँची हुई है कि पाठक भी कवि की भावनाओं के साथ लीन होकर उस विरह या प्रेम को यथार्थ मानकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। प्राकृतिक उपकरणों से प्रतीकों की जैसी नूतन योजना प्रसाद ने 'आँसू' में की है वैसी उनसे पहले खड़ीबोली का कोई अन्य कवि नहीं कर सका था। सौन्दर्य-वर्णन के लिए जिन कोमल प्रतीकों का चयन कवि ने किया है वह भी अभिनव है।

'आँसू' के बाद प्रसाद जी के स्फुट गीतों के संग्रह 'झरना' और 'लहर' प्रकाशन में आये। यद्यपि इनका प्रकाशन बाद में हुआ किन्तु इनमें संकलित गीत पहले के ही हैं। इन गीतों में द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति उत्पन्न विद्रोह का रूप पूर्णरूपेण देखा जा सकता है। 'झरना' के गीत कवि के अन्तर्द्वन्द्व या मानस-मन्थन से उद्भूत हुए हैं। बाह्य जगत की वस्तुओं को सामने रखकर कवि ने उनका अंकन नहीं किया है। कवि-मानस के उत्थान-पतन, आशा-निराशा, सुख-दुःख, सभी कुछ इनमें बिखरे पड़े हैं। कवि अपने जीवन के किसी सरस स्वप्न-अंश का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में इस प्रकार करता है—

"किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है॥"

प्रसाद ने 'झरना' के गीतों में अपने विकास की [illegible] रूपों में देखा है [illegible] विभिन्न रूपों में वर्णन किया है, [illegible] को उनके अन्तस्तल में ही छिपा बैठा है और [illegible]

"प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ।
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान ॥"

गीतों की दृष्टि से 'झरना' में स्वरूप की एकता या समता नहीं है। उस समय एक भावुक कवि गीत के जो सुन्दर और सरस प्रयोग कर सकता था वे सब प्रसाद जी ने भी इसमें सफलता के साथ किये। व्यक्तित्व की गहरी छाप के साथ अर्द्ध प्रस्फुटित भावनाओं को अभिव्यक्ति या वाणी देना ही इन गीतों का लक्ष्य समझा जा सकता है। 'झरना' की कविताओं में अनेक गीत इनके अधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं कि उनकी टक्कर की भावुकता वाले गीत और कवियों की तो बात ही क्या स्वयं प्रसाद जी भी नहीं लिख सके। 'विषाद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"कौन प्रकृति के करुण काव्य या वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है अमृत सदृश नश्वर काया में ॥"

गीतों का दूसरा संग्रह 'लहर' प्रसाद जी की अपेक्षाकृत प्रौढ़ रचना है। एक विचारशील गम्भीर कलाकार जिस प्रकार अतीत की घटनाओं को बटोर-कर उनके माध्यम से आत्माभिव्यक्ति में लीन होता है उसी प्रकार प्रसाद जी ने 'लहर' के गीतों में अपनी आन्तरिक चिन्ताधारा को अभिव्यक्त किया है। प्रणय-गीत ही 'लहर' की आत्मा है। प्रणय की सृष्टि करने में कवि के समक्ष व्यापक जीवन रहा है और उसके समस्त सुख-दुःख भी उसने जाने-समझे हैं। प्रणय-गीतों के साथ ही दार्शनिक चिन्तनपरक गीत भी 'लहर' में हैं जिनमें दार्शनिक कवि प्रसाद की झाँकी मिल सकती है जिसका व्यापक रूप 'कामायनी' में दृष्टिगत हुआ। दार्शनिकता के लिये बौद्ध दर्शन की विचारधारा को कवि प्रसाद ने इन गीतों में करुणा के द्वारा व्यक्त किया है। बौद्ध दर्शन का दुःखवाद कवि के इन गीतों में समन्वय और सामंजस्य की भावना के साथ जिस रूप में आया है वह उनके शिवतत्त्व का ही प्रारूप है। लहर में कुछ ऐतिहासिक कथानक भी गीत रूप में बाँधे गये हैं।

'लहर' को कवि प्रसाद की अन्तरतम भावना का प्रतीक कहा जाता है अर्थात् कवि जीवन के विषम झंझावातों से समुद्र के समान तरंगाकुल होकर

अब शान्ति चाहता है। जिस प्रकार समुद्र में सदा कुछ न कुछ प्रकम्प, तरंग, वेग रहता है वैसे ही जीवन में भी इन सबका होना अनिवार्य मानकर कवि उन्हें स्वीकार करने में ही अपना कल्याण समझता है। 'लहर' के गीतों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें कवि को यह भली भाँति विदित हो गया है कि मेरा प्रेमी मुझसे दूर नहीं है, वह तो मेरे भीतर अन्तर में समाया हुआ है। वह निरन्तर अनुभव करने लगा है कि मैं और तू की भेद-बुद्धि व्यर्थ है। वह पुकार उठता है—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो !
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे जलधि उदार बनो ॥"

इन गीतों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कवि मानस की अतल स्पर्श गहराई में बड़ी सहजता के साथ उतरता चला जा रहा है। विषाद और नैराश्य से दूर शान्ति-स्निग्ध पारदर्शी सौंदर्य में लीन होकर वह उस रूप की झाँकी देख रहा है जो उसे मुग्ध करने के लिये पर्याप्त है। कवि ने उद्बोधन के भी सुन्दर गीत 'लहर' में संकलित किये हैं—

"अब जागो जीवन के प्रभात,
वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात ॥"

'लहर' में कुछ कविताएँ बौद्ध दर्शन के प्रभाव में लिखी गई हैं जिनका प्रसाद जी की चिन्ताधारा के साथ गहरा सम्बन्ध है। 'अशोक की चिन्ता' कविता में बौद्धधर्म का महत्त्व बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है।

'प्रलय की छाया' कवि प्रसाद के [illegible] सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन का परिणाम है। जिन सुन्दर भावों की व्यंजना द्वारा इस ऐतिहासिक कविता का ताना-बाना बुना गया है वे अभिव्यंजना कौशल के [illegible] हैं। यौवन और सौन्दर्य के मादक रूप का ऐसा सजीव चित्र इस कविता में [illegible] कि बहुत कम कवि उपस्थित कर सके हैं। समस्त कविता का [illegible] बनाने में ऐसा मोहक और विस्मयकारी है जिसे पाठक [illegible]

नहीं सकता। नारी के अन्तस्तल के घात-प्रतिघातों को प्रस्तुत करने में प्रसाद जी को अपूर्व सफलता इस कविता में मिली है—नारी (कमला) अपने भविष्य को देखकर स्वयं कह उठती है—

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।"

संक्षेप में, 'झरना' और 'लहर' के गीतों का अनुशीलन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'झरना' में कवि ने गीत-सृष्टि का नूतन प्रयोग प्रारम्भ किया था। 'लहर' में उन गीतों को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ और कवि की गीत-सृष्टि काव्य के अलंकरणीय उपकरणों से दमक उठी। "झरना' में कवि की भावधारा अस्थिर और चंचल थी किन्तु 'लहर' में वह स्थिर और एक सर्वांग जीवन-दर्शन के साथ आगे बढ़ी है। छायावादी कविता की समस्त प्रवृत्तियाँ इन गीतों में पूर्ण रूप से मूर्तिमान् होकर सामने आती हैं।

इन गीतों के अतिरिक्त प्रसाद के कुछ सुन्दर गीत उनके नाटकों में भी बिखरे पड़े हैं। नाटकों के गीतों को स्वयं कवि ने गेय बनाने का जागरूक प्रयत्न किया है और किसी-किसी नाटक में तो स्वर-ताल द्वारा उनकी पूर्ण नियोजना भी की है। इन नाटकों में अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और एक घूँट में कतिपय सुन्दर गीत दृष्टिगत होते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में सुवासिनी द्वारा गाया गया निम्नलिखित गीत हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि बन गया है—

"तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों?"

सैनिकों के लिए सुन्दर प्रयाण-गीत (मार्चिंग सौंग) वीरता और उत्साह की व्यंजना करता हुआ देश की सुन्दर प्रतिभा सैनिकों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। इस गीत की पदावली में जो स्वर-साम्य और गति-ताल है वह अवसर की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल और भाव की दृष्टि से अनुपम है—

"हिमाद्रि तुँग श्रृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सो चलो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो ।।

मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रणीत 'कामना' रूपक में भी प्रसाद जी ने सुन्दर काव्य-सृष्टि की है। प्रत्येक पात्र एक विशेष मनोविकार या भाव का प्रतीक बन कर सामने आता है और विश्व-खेल का पाठक को आभास मिलता है। इसमें गीतों का प्रयोजन इसलिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उन्हीं के द्वारा भाव योजना का कवि ने नियोजन किया है। कतिपय आलोचकों ने नाटकों में प्रयुक्त गीतों को अनुपयुक्त ठहराया है। किन्तु भारतीय नाट्य-परम्परा और मनोरंजन को ध्यान में रखकर प्रसाद के गीतों को अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उनमें काव्यत्व के साथ कथावस्तु को मोड़ देने की—गति देने की अतुल शक्ति छिपी है।

प्रसाद जी की काव्य-शक्ति का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है उनकी अमर कृति 'कामायनी'। 'कामायनी' में कवि प्रसाद अपने मनन, चिन्तन, अध्ययन, अनुभूति, कल्पना और काव्य-शिल्प की चरम प्रौढ़ि पर विराजमान दृष्टिगत होते हैं। 'आँसू', 'झरना' और 'लहर' का कवि 'कामायनी' में पहुँचकर भावलोक, कल्पना-लोक और अनुभूति-लोक का स्वामी बन जाता है। काव्य-शिल्प उसकी अँगुलियों पर थिरकने लगता है। छायावादी काव्यधारा में यदि कोई सर्वश्रेष्ठ कृति है तो वह है 'कामायनी'। 'कामायनी' को आधुनिक युग का श्रेष्ठतम महाकाव्य समझा जाता है। कथा की दृष्टि से इसमें विशेष विस्तार नहीं है। वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे हुए कथासूत्र को अपनी कल्पना द्वारा ग्रथित करने का प्रयास 'कामायनी' के मूल में है किन्तु प्राचीन आख्यान को पल्लवित करके रखना मात्र उनका उद्देश्य नहीं समझना चाहिए। यथार्थ में कवि ने इस महाकाव्य में युगानुरूप नूतन आदर्शों की स्थापना करने की चेष्टा की है। मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनाना ही मानो कवि के अन्तर में था जिसे मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न 'कामायनी' है।

जैसा कि हमने अभी कहा है कि 'कामायनी' प्राचीन आख्यान वस्तु पर आधृत एक ऐतिहासिक महाकाव्य है किन्तु उसमें न तो कथानक की व्यापकता है और न कार्य की प्रधानता है। जिस प्रकार महाकाव्यों में विविध कोटि के पात्रों तथा युद्ध, विवाह यज्ञ, आखेट आदि के समावेश से विशद कार्य-व्यापार की योजना की जाती है वैसी 'कामायनी' में नहीं है। 'कामायनी' में केवल तीन पात्र ही मुख्य हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। तीनों की वृत्तियाँ सामाजिक कार्यशील कोटि की न होकर आत्मलीन या ऐकान्तिक कोटि की हैं। इन पात्रों के माध्यम से कवि के एक मनोवैज्ञानिक सांकेतिक रूपक का भी आभास मिलता है। 'कामायनी' का रूपक तत्त्व इस कारण और महत्त्व-पूर्ण हो जाता है कि वह मानव के विकास की गाथा बड़े स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करने में समर्थ है। कथानक तथा पात्र-योजना की दृष्टि से 'कामायनी' में जहाँ अनेक त्रुटियाँ है वहाँ रूपक तत्त्व के माध्यम से गम्भीर भाव-योजना उसकी प्रबल शक्तिमत्ता का प्रमाण है। प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्रीय कसौटी पर 'कामायनी' भले ही पूर्ण रूप से महाकाव्य सिद्ध न हो और उसके वस्तु-व्यापार संघटन में अनेक त्रुटियाँ परिलक्षित हों किन्तु उसकी रस-योजना, महत्कार्य और महदुद्देश्य इस बात के प्रमाण हैं कि वह उदात्त भावों से परि-पूर्ण दार्शनिक विचारधारा पर आश्रित सुन्दर महाकाव्य है।

'कामायनी' पन्द्रह सर्गों का महाकाव्य है जिसमें चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य आनंद, शीर्षक हैं। चिन्ताग्रस्त मनु को जल-प्लावन के बाद जो कुछ दिखाई देता है वह नैराश्य के सिवा कुछ और उत्पन्न नहीं करता। अग्निहोत्र के बाद अवशिष्ट अन्न को देखकर श्रद्धा मनु के समीप आती है और दोनों का सम्पर्क दोनों को आशामय प्रतीत होता है। दोनों के साथ रहने से गृहस्थी का पोषण होता है, किन्तु मनु सन्तान की आशंका से ही ईर्ष्यालु हो उठते हैं। श्रद्धा उन्हें समर्पण का महत्त्व बताती हुई नारी जाति की महत्ता का भी संकेत देती है। किन्तु वंचक मनु श्रद्धा को छोड़ भाग खड़ा होता है और इड़ा के चंगुल में फँसता है। इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रतीक है जो मनु से सारस्वत प्रदेश निर्माण का कार्य लेती है किन्तु उसके वासनाजन्य प्रेम को स्वीकार नहीं करती। फलतः संघर्ष का जन्म होता है और मनु प्रजा द्वारा आततायी समझे

जिन समस्याओं को लेकर काव्य-सृजन किया है वे किसी एक युग तक ही सीमित न होकर शाश्वत समस्याएं हैं जिनका समाधान खोज लेना सामान्य मानव के लिए सहज नहीं है। 'कामायनी' जैसे दार्शनिक काव्य में भी व्यावहारिक चिन्तन को प्रसाद जी ने छोड़ा नहीं है। इतिहास और संस्कृति की परम्परा के सहारे अतीत का उज्जवल पृष्ठ सामने लाने का जैसा प्रयत्न प्रसाद-साहित्य में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम और सौंदर्य के चित्र ही प्रसाद की कविता के मूल आधार माने जाते हैं। प्रेम को जो निर्मल रूप प्रसाद दे सके वैसा स्वच्छन्दतावादी अन्य कोई कवि नहीं दे सका। 'आँसू' काव्य में प्रेम और सौंदर्य का यह स्वच्छन्द रूप देखा जा सकता है। प्रेम और सौंदर्य के साथ राष्ट्रीयता और मानवतावाद को भी प्रसाद ने अपनी कविता में स्थान दिया है। उन्होंने राष्ट्रीय भावना का आधार स्थूल राजनीतिक स्वातन्त्र्य नहीं माना, वरन् सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा करते हुए राष्ट्रीयता की वरेण्य कल्पना करना ही उन्हें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत हुआ। एक जागरूक प्रतिभाशाली कवि को जिस प्रकार की स्वस्थ भावनाएँ लेकर काव्य सृजन करना चाहिए वैसा ही प्रसाद का आजीवन दृष्टिकोण रहा। यही कारण है कि प्रेम, सौन्दर्य, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, मानवता आदि विविध क्षेत्रों में विचरण करते हुए भी कहीं उन्हें असफलता नहीं मिली। छायावादी कवियों ने बड़े सुन्दर गीत और प्रगीत मुक्तक लिखे किन्तु प्रसाद के समान महाकाव्य और किसी छायावादी कवि ने नहीं लिखा। इसका कारण यही है कि जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र जैसा प्रसाद के अन्तर्नेत्रों के समक्ष था वैसा किसी और के सामने नहीं था। निस्संदेह प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं, उनकी तुलना किसी एक कवि के साथ नहीं हो सकती।

प्रसाद जी के कवि रूप का संक्षेप में वर्णन करने के उपरान्त उनके कवि व्यक्तित्व का उनकी प्रत्येक प्रमुख रचना के आधार पर अगले अध्यायों में वर्णन किया जायेगा। यहाँ तो हमारा केवल यही प्रयोजन था कि पाठक सामान्य रूप से उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से परिचित होकर कवि की गति-विधि से अवगत हो सके।

: ३ :

प्रसाद की कृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन

कानन कुसुम*

'कानन कुसुम' 'प्रसाद' जी का खड़ीबोली का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण कविता-संग्रह है। इससे पूर्व लिखित 'चित्राधार' की कविताओं में हल्की-भीनी सुगंध अवश्य थी, पर भ्रमरों को आकृष्ट करने योग्य नहीं। आलोच्य संग्रह की कविताओं में भावनाओं में भावना आकार ग्रहण करने लग गई है। भूमि उर्वर है, मिट्टी गीली और चिकनी। बीज प्रस्फुटित हो चुके हैं और किसलय-कोपलें पवन में स्पन्दित रोमांचित हो रही हैं। भावना की मदिरा-रूप ग्रहण करके पवन में स्पन्दित रोमांचित हो रही हैं। भावना की मदिरा-गंध भी आने लग गई है; पर वह अभी तीखी नहीं। बैसाख के नीम के फूलों की पहली वर्षा की बूंदों से उत्पन्न धरती की, अथवा प्रथम बार धुलते ही मिट्टी के सकोरे में से उठनेवाली भीनी किन्तु स्पष्ट गंध 'कानन कुसुम' की कविताओं में है। "इसमें रंगीन और सारे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम हैं" (लेखक द्वारा संग्रह के प्राक्कथन से)। इस सग्रह का जीव इन मार्मिक पक्तियों में, जो सग्रह की व्यापक भावना को हृदयंगम कराने में सहायक होती हैं, विद्यमान है—

"स्मृति को लिये हुए अन्तर में कर लेंगे जीवन निःशेष।"

× × ×

---

*'कानन कुसुम' की रचना सन् १९१२ (संवत १९६९) में हुई कही जाती है किन्तु उसका प्रथम पुस्तकाकार परिवर्द्धित रूप में प्रकाशन सन् १९१३ में ही हुआ। इसके कई संस्करण हो चुके हैं। प्रथम संस्करण 'साहित्य सुमन माला', बनारस ('इन्दु' कार्यालय ?) के अन्तर्गत हुआ और इसमें ब्रजभाषा में लिखित ४१ कविताएं थी। पुनः प्रकाशन भारत भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग से हुआ जिसमें कविताओं के रूपाकार व संख्या में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इस परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित संग्रह की कविताओं की संख्या ४९ है जो सब खड़ीबोली में हैं।

"अहो अनिर्वचनीय भावसागर ! सुनो
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही ।"

× × ×

"हृदय सुनाना तुम्हें चाहता गाथाएँ जो बीतीं ।"

इन उद्धरणों से यह ज्ञातव्य उपलब्ध है—कवि के पास किसी मर्म मधुर स्मृति का मसाला जुट चुका है; वह स्मृति को अन्तर में रखकर ही प्रसन्न है क्योंकि दुनिया तो हँसकर उड़ानेवाली है; कवि इतना विदग्ध व अन्तर्मुख हो चुका है कि जीवन निःशेष करने के अतिरिक्त जीवन की व्यावहारिक सिद्धियों व बहिर्मुख सफलताओं की अब न तो उसे चाह है और न उनके प्रति उत्साह; कवि को यह विश्वास है कि मेरी भी स्वर-लहरी में कोई न कोई गहरी चीज़ है ज़रूर, दुनिया कान दे तो शायद मिल जाय (विनयोक्ति); बात भी कुछ ऐसी है कवि उसे सुनाना ही चाहता है, अभिव्यक्ति के लिए वांछित वेग या 'स्टीम' पीछे से धक्का दे रही है; बात छोटी नहीं, गाथाएँ हैं पूरी गाथाएँ! वे वीत चुकी हैं और इतनी मीठी थीं कि काल-पटल पर उनकी पुनरावृत्ति मानो हो ही नहीं सकेगी ।

कहने का आशय यह कि 'कानन कुसुम' की उपेक्षा नहीं की जा सकती । अनुभूति के धनी की इस रचना में झरना, आँसू, लहर व कामायनी के बीज फूटकर अंकुरित हो चुके हैं । कवि अभी लगभग २४ वर्ष का है, शालीन है, अपनी व्यथा का ढिंढोरा पीटते फिरना उसे नहीं भाता । पर उसकी प्रेम निष्ठा इस कोटि की अवश्य हो चुकी है जिसके वशीभूत हो प्रिय को आत्मविश्वास के स्वर में इतना बेखटके कह सकता है—**'हम-तुम जब हैं एक, लोग बकते फिरें ।'**

'कानन कुसुम' में दो प्रकार की कविताएँ हैं—विपय-प्रधान और भावना-प्रधान । विपय-प्रधान में वस्तु-स्थान वर्णन और ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों या परिस्थितियों को लेकर लिखे गये चरित्रात्मक वर्णन या लघु आख्यान हैं तथा भावना-प्रधान कविताओं में मानसिक भावों की विवृत्ति । दोनों का अपना-अपना सौन्दर्य है । लघु आख्यानों में भावों की उदात्तता व ओजस्विता, चरित्रों की प्रभावशालिता तथा देश-जाति व संस्कृति का गौरव-गान मन को आस्फालित करते हैं । भावना-प्रधान कविताओं में भावना की स्वाभाविकता, सरलता व

गम्भीरता मन को द्रवित-प्रेरित करती है। इसके लिए कल्पना और प्रकृति से कवि उतनी सहायता बराबर लेता है जितनी का लाभ उठाना उसके बल-बूते में है। मूल रोमाण्टिक जीवन-दृष्टि के कारण कवि ने प्रकृति के सारे कोमल पक्ष को घेर रखा है। भावना-प्रधान कविताओं में कवि को जो कुछ कहना है उसे वह प्रकृति के ही माध्यम से कहने का पूरा-पूरा प्रयत्न करता है।

सब कविताएँ शृंगार, वीर, शान्त, वात्सल्य आदि रसों से सम्बन्ध रखती हैं पर किसी भी कविता में रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं पाई जाती। अधिकांश कविताओं में विभाव-पक्ष या भाव-पक्ष—इनमें से कोई एक पक्ष ही थोड़ा-बहुत उद्घाटित होकर रह गया है। अनेक कविताओं में रंगीन शृंगारी भावनाओं की कच्ची-पक्की अभिव्यक्ति है। इन कविताओं में कुछ कविताएँ (जैसे मर्म-कथा, हृदय-वेदना, दलित कुमुदिनी, प्रियतम, मिल जाओ गले, नहीं डरते आदि) भावों की सादगी, सरलता व सचाई की दृष्टि से मार्मिक हैं। सुधार-वृत्ति से प्रेरित आह्वान-उद्बोधन की भावना वाली कविताओं में अच्छा ओज व्यक्त हुआ है। बहुत काफी कविताएँ शान्त रस व भक्ति रस सम्बन्धी भी हैं जिनमें ईश्वर के प्रति समर्पण, विनय, विश्वास, कामना व याचना आदि के भाव प्रकट हुए हैं। एकाध कविता वात्सल्य भावना वाली भी है।

यद्यपि प्रकृति के परुष अथवा कठोर रूपों का भी कवि ने ग्रहण किया है पर वह (प्रकृति) मुख्यतः जीवन के भोगपक्ष की ही अभिव्यक्ति करती है। कवि में प्रकृति के निरीक्षण में भी रुचि है। एक स्थान पर उसने (वर्ड्सवर्थ की तरह) इस बात पर भी खेद प्रकट किया है कि हम प्रकृति के दृश्य को ध्यान से नहीं देखते—

> "तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं।
> तुम्हें सुघर ये दृश्य दिखाते हैं नहीं।"

जड़-प्रकृति के जगत् में भी कवि ने जीवन-व्यापारों की कल्पना करके उस पर चेतना का आरोप कर दिया है। कहीं-कहीं प्रकृति से उपदेश-ग्रहण भी किया गया है। प्रकृति के सहारे अन्योक्तियाँ भी कही गई हैं। रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करने का भी प्रयास हुआ है। प्रकृति के पदार्थों को कहीं-कहीं प्रतीक भी बनाया है पर उनके द्वारा भावनाओं को जगाने की गहरी क्षमता अभी कवि में आ नहीं पाई है।

इन कविताओं से कवि का स्वतन्त्र विचार और चिंतन भी थोड़ा-बहुत झलकता है। प्रेम की शक्ति में उसका गहरा विश्वास है। 'सौंदर्य' नामक कविता में वह सौन्दर्य के स्वरूप और उसकी मूल आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में कहता है—

"है यही सौन्दर्य में सुषमा बड़ी, लौह-हिय को आँच इसकी कड़ी।"

× × ×

"मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी, दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी।"

राम, कृष्ण व पौराणिक महापुरुषों के प्रति कवि ने बहुत अनुराग प्रदर्शित किया है। 'तुलसी' के प्रति श्रद्धांजलि भी अर्पित की गई है। कवि दो जगह पूरे विश्व-गृहस्थ (ईश्वर) को नमस्कार कर प्रकारान्तर से आत्मीयतापूर्ण व सात्त्विक मर्यादापूर्ण गृहस्थ जीवन के प्रति अपना आदर प्रकट करता है। भारतीय आदर्शों में कवि ने सर्वत्र अपनी अडिग श्रद्धा व्यक्त की है। कवि युवकोचित उत्साह के साथ अपने जीवन को सुन्दर व उज्ज्वल बनाकर संसार में शान्ति, पवित्रता, न्याय व करुणा की स्थापना करने का अभिलाषी है। स्थल-स्थल पर वह मानव-जीवन व सभ्यता की भी, सांकेतिक शैली में, आलोचना करता है और इस प्रकार जीवन का सही स्वरूप संसार के सामने रखने को उत्सुक है। व्यावहारिक जीवन के बीच उसे संसार में जो खटमिट्ठे या कड़वे अनुभव हुए हैं उन्हें भी वह किसी न किसी व्याज से हमारे सामने रख देता है। कवि का जन्मान्तर में विश्वास है; अनेक स्थलों पर उसने तत्सम्बन्धी संकेत किये हैं। भाग्यवादी तो वह है ही! नियति, भाग्य, अनागत, अदृष्ट, प्रारब्ध के सम्बन्ध में दर्जनों कथन 'प्रसाद'-साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे हुये मिल जायेंगे। कालचक्र की गति का प्रभाव भी कवि स्वीकार करता है। कवि का इतिहास प्रेम और शिल्प तथा कला-प्रेम भी विशेष रूप से प्रकट हुआ है। इस प्रकार कई विचार तन्तु इस संग्रह में एकत्रित किये जा सकते हैं और अंत में शैली-सम्बन्धी एक-दो बातें। 'कानन-कुसुम' की काव्य-शैली में निश्चय ही अभी प्रौढ़ता नहीं आई है। शैली में प्रसाद गुण भरपूर है। उसमें गद्यात्मकता या प्रतिवृत्तात्मकता भी पर्याप्त है जो द्विवेदी-युग के प्रभाव को सूचित करती है। उसमें ध्वननशीलता का गुण—थोड़े में बहुत अधिक झंकृत करने का गुण—अभी प्रस्फुटित नहीं हुआ है। छायावादी शैली के चोचले भी अभी नहीं दिखाई पड़ते। भाव का खरापन, अर्थ-गौरव और उच्चाशयता आदि गुण ही शैली के स्वरूप को

निर्धारित कर देते हैं। 'सुगन्धों की घटा' जैसे लाक्षणिक प्रयोग कहीं-कहीं मिल जाते हैं और मानवीकरण की कला से भी अपरिचित नहीं।

भाषा पर्याप्त सशक्त, ओजस्विनी और प्रवाहमयी है। वह सर्वत्र विषयानुरूपिणी हैं। संस्कृत, ब्रजभाषा और कहीं-कहीं उर्दू का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सन्धि-समास के प्रयोग से भाषा में कसावट भी कई कविताओं में दिखाई पड़ती है। 'नहीं' के स्थान पर 'नहिं' के प्रयोग से भाषा सम्बन्धी शैथिल्य सूचित होता है। खड़ी में 'लहे' क्रिया का प्रयोग हुआ है। एक ओर 'नृपचूड़ामणिवय' और 'रविकरोज्ज्वल' जैसे ठेठ संस्कृत शब्दों का प्रयोग हुआ है तो दूसरी ओर 'कमाल' के प्रयोग में भी कमाल हुआ है। 'घाव पर छिड़के नमक' आदि मुहावरों की छटा भी दिखाई पड़ जाती है।

उपमा, रूपक (सांग और निरंग दोनों) सन्देह, व्यतिरेक, काव्यलिंग, हेतूत्प्रेक्षा, प्रौढ़ौक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'चित्रकूट' नामक कविता में अलंकार-विधान पर्याप्त कौशलपूर्ण है। कुछ सुन्दर उपमाएँ देखिए—

"प्रेमी के दृग तारा से ये निर्निमेष हैं।"
"सब सो रहे, जैसे अभागों के दुखद प्रारब्ध थे।"
"खुले-किवाड़े-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को।"

और, यह सांग रूपक कैसा अच्छा निभा है—

"हैं पलक परदे खिंचे वरुणी मधुर आधार से।
अश्रुमुक्ता की लगी झालर खुले दृग द्वार से।
चित्त मंदिर में अमल आलोक कैसा हो रहा,
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य हैं आकार से।"

कवि ने अनेकों छन्दों का प्रयोग किया है। उर्दू बह्रों में कुछ कविताएँ लिखी गई हैं। भिन्न तुकान्त कविताएँ भी हैं। संस्कृत के द्रुतभीलम्बित आदि वर्णवृत्त तथा हिन्दी के छप्पय, अरिल्ल, सोरठा आदि भी प्रयुक्त हुए हैं। छन्दों में पर्याप्त स्वच्छता और प्रवाह है किन्तु अनेक स्थानों पर यति-भंग भी पाया जाता है।

करुणालय*

'करुणालय' 'प्रसाद' जी की एक अत्यन्त लघुकाय किन्तु बड़ी शक्तिशाली कृति है। यह एक दृश्य काव्य है जो मात्रिक छन्द वाली भिन्न तुकांत कविता में रचा गया 'गीति नाट्य' कहलाता है। हिन्दी में यह 'प्रसाद' का एक नया प्रयोग है जिसका पर्याप्त अनुकरण भी हुआ है। चरणान्त में अन्त्यानुप्रास या तुक का बन्धन न होने, प्रत्येक पंक्ति में लय और प्रवाह की एकरूपता रहने तथा वाक्य की समाप्ति सुविधानुसार चरण के मध्य या अन्त में कहीं भी हो सकने की छूट रहने से कवि को इसमें भाव-प्रकाशन की अत्यधिक स्वतन्त्रता रहती है, यही इस शैली (मात्रिक छन्द वाली भिन्न तुकांत कविता) की रचना की विशेषता है। 'महाराणा का महत्त्व' नामक गीतिरूपक (opera) में भी 'प्रसाद' ने यही शैली अपनायी है।

'करुणालय' में एक पौराणिक प्रसंग को लेकर कवि ने भारतीय समाज के एक विकृत जर्जर अंग की सडाँध व गन्दगी को निर्ममतापूर्वक साफ़ कर स्वस्थ दृष्टि से जीवन की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। अपना यह उद्देश्य उन्होंने एक अत्यन्त रोचक व सशक्त लघु कथानक के माध्यम से सिद्ध किया है। इस कथानक के वाहक प्रसिद्ध पात्र हैं—हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, विश्वामित्र, शुनःशेफ, शक्ति, मधुच्छन्द, अजीगर्त, ज्योतिष्मान्, तारिणी और सुव्रता। सारा कथानक केवल ५ छोटे-छोटे दृश्यों में विभाजित है। रंग-संकेत व स्थान निर्देश आदि भी कवि ने यथावश्यक रूप में दे दिये हैं। पात्रों के नाम, संवाद से पूर्व, मूल कला-प्रवाह में अलग दिये गये हैं (जैसे, 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' में)। कहानी यों है कि अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र एक दिन संध्या के शांत समय सेनापति ज्योतिष्मान् व अपने कुछ अन्य सहचरों के साथ सरयू में नौका पर जल-विहार कर रहे हैं। सहसा ही नाव किसी दैवी प्रेरणा से रुक जाती है। नेपथ्य में घोर गर्जन के साथ आकाशवाणी होती है कि राजा, तुमने सुत-वलि के साथ यज्ञ करने का निश्चय किया था वह तुमने अब तक क्यों नहीं किया। राजा ने क्षमा याचना करते हुए आदेशानुसार पुत्र-वलिदान के साथ यज्ञ

*प्रथम संस्करण, सन् १९१२ माघ, वि० सं० १९६९। जून सन् १९१२ में 'सरस्वती', भाग १३, संख्या ६ में तथा 'इन्दु', कला ४, खंड १, किरण २ में भी प्रकाशित।

करने का वचन दिया। दूसरा दृश्य—राजकुमार रोहित के मन में जीवन की लालसा है। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य व आत्मावलम्बन की भावना से पूर्ण है तथा भवन छोड़कर कहीं चल देता है। इन्द्र की आकाशवाणी होती है। देवता उस पर प्रसन्न हैं और आशीर्वाद देते हैं कि जाओ, अपना काम करो। तीसरा दृश्य—अजीगर्त नामक एक ऋषि अपनी पत्नी तारिणी व अपने तीन पुत्रों के साथ आश्रम में रहते हैं। चारों ओर अकाल की स्थिति है और सर्वनाश धायँ-धायँ कर रहा है। रोहित यहाँ आ पहुँचता है और ऋषि की करुण दशा देखकर कहता है कि मैं तुम्हें सौ गायें दूँगा, यदि तुम मुझे स्वेच्छानुसार उपयोग के लिए अपना एक पुत्र दे दो। ऋषि स्वीकार कर लेते हैं और मध्यम पुत्र शुनःशेफ (जो वास्तव में उनका पुत्र नहीं है) के लिए तैयार हो जाते हैं। विक्रम का कार्य सम्पन्न हो जाता है। चतुर्थ दृश्य—रोहित राज भवन लौटता है किन्तु पिता क्रुद्ध हैं। वे वशिष्ठ ऋषि के समझाने पर शान्त होते हैं। पुत्र श्राद्ध-पिण्डोदक आदि के लिए चाहिए—रोहित की यह बात समझ में आने पर ये शुनःशेफ की बलि के साथ यज्ञ करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। शुनःशेफ भी तैयार है। यज्ञ का अनुष्ठान हो गया। पाँचवाँ दृश्य—ऋषि वशिष्ठ का पुत्र शक्ति शुनःशेफ का वध करने के लिए नियत किया गया है किन्तु वह क्षुब्ध होकर अपना शस्त्र फेंक देता है और अवज्ञा के स्वर में अपने पिता से कहता है कि आप तो शुनःशेफ के पिता से भी अधिक कठोर निकले जो ऋषि होकर भी ऐसा कार्य करवा रहे हैं। यह भयंकर कर्म मुझसे न होगा। इस पर अजीगर्त कहता है कि यदि १०० गायें मुझे और मिल जाएँ तो वध कार्य भी मैं ही कर दूँगा। वशिष्ठ यह बात स्वीकार कर लेते हैं। इस समय बालक शुनःशेफ करुणावरुणालय भगवान् की अत्यन्त कातर स्वर में प्रार्थना करता है। ठीक इसी समय ऋषि विश्वामित्र अपने मधुच्छेद आदि १०० पुत्रों के साथ वहाँ आ निकलते हैं। वे ऋषि वशिष्ठ की भर्त्सना करते हैं कि क्या तुम भी अपने पुत्र की इस तरह बलि दे सकते हो जो ऐसा यज्ञ करवा रहे हो! धर्म की छाप के साथ यह कैसी आसुरी माया चल रही है? यह हिंसा का तांडव है! आपको अपने पौरोहित्य की इतनी चिन्ता है! इस प्रकार व्यंग-कटाक्ष के साथ विश्वामित्र वशिष्ठ को बुरी-भली कहते हुए शुनःशेफ के स्थान पर स्वयं अपना पुत्र (मधुच्छेद) बलि चढ़ाने को

उद्यत होते हैं। वशिष्ठ लज्जित होते हैं और वे विश्वामित्र की सदाशयता व ऋषित्व से प्रभावित होते हैं। इतने में राजा की एक सुव्रता नाम की दासी (जो विश्वामित्र की गान्धर्व विवाहिता स्त्री है) 'न्याय ! न्याय!' की पुकार मचाती हुई झटपटाती हुई-सी राजा के सामने आ खड़ी होती है। वह अजीगर्त को उसके दम्भ व कपटाचार के लिए बहुत बुरी तरह फटकारती है और विश्वामित्र को भी आड़े हाथों लेती है। वह अपनी जीवन-कथा सुनाती है और अपने पति विश्वामित्र से कहती है कि तुम मुझे अकाल में एक बार एकाकी छोड़ गये थे जबकि मैं गर्भिणी थी। मैं गाँव में लांच्छित हुई और किसी तरह अजीगर्त के यहाँ पहुँची। वहाँ प्रसव-समर्पण करके मैं यहाँ आई और तब से ही दासी जीवन व्यतीत कर रही हूँ। विश्वामित्र यह करुण कथा सुनकर करुणा-विगलित-से पश्चाताप करते हैं और अकाल की स्थिति में, गर्भिणी पत्नी को धर्म और तप के नाम पर छोड़ दूर जंगल में चले जाने के लिये अपने को मिथ्याचारी व दंभी घोषित करते हैं। अजीगर्त भी मन में सहमे हुए से अपराधी बने खड़े हैं। विश्वामित्र की प्रार्थना पर सुव्रता अपने कार्य से मुक्त कर दी जाती है। ये ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और क्रूर तथा आसुरी क्रियाओं के अपराध की दुस्तरता बताते हुए उनके बहिष्कार का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि शुनःशेफ को छोड़ देने में ही यज्ञ की वास्तविक सफलता और सिद्धि निहित है। चारों ओर प्रसन्नता और आनन्द का वातावरण फैल जाता है।

सारी कृति नाटकीय तत्त्वों से भरपूर है। नाटकोपयोगी 'संघर्ष' तत्त्व प्रभूत मात्रा में विद्यमान् है। अन्तर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व के स्थल भी बहुत हैं—यद्यपि उस द्वन्द्व के चित्रण में 'प्रसाद' यहाँ बहुत सफल नहीं दिखाई पड़ते। भाव द्वन्द्व या मानसिक घात-प्रतिघात भी पूरी सूक्ष्मता-सुकुमारता के साथ नहीं हो पाया। नाटकीय कार्य-व्यापार (Dramatic action) की दृष्टि से रचना बहुत गतिशील है। लेखक ने छोटे से कथानक में नाटक के सभी तत्त्वों—चरित्र-चित्रण, संवाद, देश-काल का चित्रण, शैली व उद्देश्य—का यथास्थान, सुन्दर व प्रभावशाली नियोजन कर दिया है। कथानक का विकास क्रमिक गति से होता है और वह पाठक के मन में आद्यान्त जिज्ञासा (Supense) बनाये रखने में पर्याप्त समर्थ है। कार्य-व्यापार की पाँचों अवस्थाओं (आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) का भी निरूपण किया जा सकता है। हरिश्चन्द्र,

वशिष्ठ, विश्वामित्र, अजीगर्त, सुव्रता आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण भी कुछ ही ध्वन्यात्मक रेखाओं में पर्याप्त स्पष्टता के साथ उभर आया है। विकृति-ग्रस्त यज्ञ-संस्कृति वाले पौराणिक युग के समाज का बड़ा ही जीता-जागता चित्र आँखों के सामने खड़ा हो गया है। सम्वादों में पात्र, आयु, पद आदि के अनुरूप अच्छा सौष्ठव और प्रवाह है। जिस उद्देश्य को लेकर यह रचना प्रस्तुत की गई है, उसमें लेखक सफल हुआ है। रचना में आदि से अन्त तक ऐसी गति व चेतना है कि रंगमंच पर इसका बहुत ही गम्भीर व लोकरंजक प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। भरतवाक्योपयोगी जगन्मांगल्य व विश्व-करुणा की उदात्त भावना के साथ इस कथानक का सुखद अन्त होता है। विनय, सत्कार, श्रद्धा आदि सांस्कृतिक गुणों के विकास की भी ध्वनि उत्पन्न की गई है। धर्मार्थकाममोक्ष की भावना से पूर्ण जीवन-दृष्टि ही इस गीतिनाट्य का प्रतिपाद्य है।

विचार-क्रान्ति इस कृति की मूल प्रेरणा या आत्मा है। केवल मनोरंजन या कथानक-सौंदर्य से अधिक गम्भीर उद्देश्य यही था, जिसने कवि को यह कृति प्रस्तुत करने के लिए खड़खड़ाया। धर्म के नाम पर यह नृशंस नर-बलि का नारकीय और विभत्स व्यापार! आर्य-धर्म में ऐसे घृणित विश्वास किधर से आ घुसे, कवि इसी क्षोभपूर्ण चिन्ता से भीतर ही भीतर संत्रस्त और विकल है। संकेत से यह भी बताया गया है हिन्दु धर्म की इसी विडम्बना से भगवान् महावीर व भगवान बुद्ध की करुणा वाले सद्धर्म के प्रचार की प्रकृति में भयंकर आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। नारी की युग-युग से होती आने वाली विवश व दयनीय स्थिति को भी कवि ने संक्षेप में दर्शाकर हमारे मन के घी को पिघलाया है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का भी एकाध स्थान पर सुन्दर संकेत मिलता है। जीवन के प्रस्तुत व सात्विक कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों से मुख मोड़कर, धर्म और तप के नाम पर दूर जंगलों में भागने वाले दम्भियों व मिथ्याचारियों के प्रति भी कवि ने अच्छे कटाक्ष-आक्षेप किये हैं। बहुत देवी-देवताओं के स्थान पर एक ही करुणावरुणालय जगत्पिता की ही आवश्यकता भी सुन्दर ढंग से व्यंजित हो गई है। यही विचार-सामग्री इस रचना की 'स्टीम' थी जिससे लेखक भरा बैठा था।

वात्सल्य, शृंगार, शान्त, वीभत्स, रौद्र और करुण रसों की समष्टि से यह रचना तैयार हुई है। करुण, रौद्र और वीभत्स—ये तीन रस ही कुछ अच्छे

खिले हैं, शेष प्रायः अविकसित से ही रह गये हैं। संचारी भावों में स्मृति, ग्लानि, उग्रता, चिन्ता, त्रास आदि का प्रयोग हुआ है।

वातावरण-निर्माण के लिए प्रकृति का प्रयोग पर्याप्त सुन्दरता के साथ हुआ है। 'संध्या' का दृश्य आरम्भ में ही बड़े मनोयोग के साथ चित्रित किया गया है। प्रतीक के रूप में भी अनेक स्थलों पर प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग हुआ है। रूपक-उपमादि अलंकारों के लिए प्रकृति उपमान रूप में तो सर्वत्र प्रयुक्त होती ही है। हरे और नीले रंग के प्रति कवि में पर्याप्त आकर्षण है। अन्यत्र लाल रंग के प्रति भी बहुत खिचाव मिलेगा।

उपमा के अतिरिक्त रूपक और अपन्हुति अलंकारों का एकाध जगह सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"हे ज्योतिष्पथ-स्वामी ! क्यों इस विश्व की
रजनी में, तारा प्रकाश देते नहीं" ··· (रूपक)
"धूल नहीं यह पैरों में है लग रही,
समझो, यही विभूति लिपटती है तुम्हें।"··· (अपन्हुति)

एकाध उपमा भी सुन्दर है। जैसे—

"वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है
जो परिमल सा फैल रहा आकाश में।" ··· (उपमा)

कहीं-कहीं शब्द की आवृत्ति के द्वारा भाव-वेग अच्छा व्यक्त हुआ है—

"शान्ति प्रेममय शान्ति भरी है विश्व में।"

कल्पना के बल पर वस्तुओं का मानवीकरण भी कहीं-कहीं अच्छा बन पड़ा है।

कहीं-कही पंक्तियों में यति-भंग भी दिखाई पड़ता है जो अशुद्ध मुद्रण के कारण ही हो गया है।

आरम्भिक काव्य में 'करुणालय' में ही पहली बार 'प्रसाद' जी की भाषा पर्याप्त सशक्त, प्रवाहमयी, प्रांजल व चमकीली दिखाई पड़ रही है और उससे भाषा की भावी स्निग्धता और प्रौढ़ता का पूर्वाभास मिल जाता है। अभी अभिव्यक्ति में गद्यात्मकता ही अधिक है। ध्वनन की शक्ति अभी अपने नरम-सुकुमार पंख फड़फड़ा रही है।

इस प्रकार 'करुणालय' एक शक्तिशाली, विचारोत्तेजक व मनोरंजक रचना है।

महाराणा का महत्त्व*

'महाराणा का महत्त्व' एक बहुत छोटा-सा ऐतिहासिक काव्य है जो काव्य रूप (form) के विचार से लेखक द्वारा गीति-रूपक (opera) की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यह 'करुणालय' गीती-नाट्य की तरह ही तुकान्त-विहीन अथवा भिन्न तुकान्त कविता में लिखा गया है और इसमें परम प्रतापी 'प्रातःस्मरणीय' हिन्दू-कुल-कमल दिवाकर मेवाड़ के राणा प्रताप का चरित्रांकन किया गया है। केन्द्रीय पात्र वे ही हैं और काव्य के चार खंडों में उन्हीं के व्यक्तित्व पर भिन्न-भिन्न दिशाओं से प्रकाश डाला गया है। काव्य-कौशल और शैली की दृष्टि से यह कृति 'प्रसाद'-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखती (हाँ, कवि के सामयिक मनोविधान एवं उसके काव्यगत ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से तो अवश्य महत्त्वपूर्ण है ही।) पर २५-वर्षीय युवा कवि के मन में वीर-प्रसविनी मेवाड़-भूमि के इस "कुलमाली, दृढ़, वीर, महान्" नरनाहर के प्रति असीम श्रद्धा के भाव हैं उनमें निहित ओज और माधुर्य के दर्शन इसमें अवश्य होते हैं।

कथा की रेखायें इस प्रकार हैं—दिल्लीपति सम्राट् अकबर का सैनप खानखाना रहीम खां प्रताप को वश में करने के लिए सम्राट् के आदेश से मेवाड़-विजयार्थ भेजा जाता है। रहीम खां बड़े उत्साह से व श्रेय की लालसा से वहाँ जाता है पर वहाँ दाल नहीं गलती। एक बार उसकी बेगम अपने यवन-सैनिकों की रक्षा में बीहड़ वन-मार्ग से जाते समय राजपूती सेना घिर से जाती है जिसका नायक राजकुँअर अमरसिंह है। यवन दल पराजित हो जाता है और विजयी राजपूत बेगम सहित सब यवनों को पराजित करके ले जाता है। सालूम्ब्राधिपति वीर कृष्णसिंह के द्वारा वार्तालाप के बीच, यवन बेगम की गिरफ्तारी का संवाद राणा को मिलता है। इस बात को सुनकर उन्हें अत्यन्त ग्लानि और दुःख होता है कि आर्य जाति के क्षत्रियों ने ऐसा कार्य किया है! यवनी बेगम ससम्मान उसके पति के पास भेज दी जाती है। बेगम और खानखाना तथा खानखाना और अकबर के बीच आगे जो संवाद होता है उसके द्वारा राणा की

*प्रथम संस्करण, जून १९१४ (संवत् १९७१)। 'इन्दु', कला ५, खंड १, किरण ६ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ।

महानता, वीरता, प्रताप, तेज और अन्य अनेक गुणों का अच्छा परिचय पाठक को मिलता है। बस यही इस काव्य की विषय-वस्तु है। प्रताप के चरित्र-वर्णन में जो प्रवाह और ओज है वही इस काव्य के आकर्षण का मूलाधार है।

यह सामग्री जिस काव्य-शैली में ढाली गई वह भी अविचारणीय नहीं। आदि से अन्त तक वीरता और ओज की ही अभिव्यक्ति है। राणा के गुणों अथवा चरित्र का, शब्द का अभिधा-शक्ति द्वारा, संवादों के बीच, सीधा-सपाट बखान कर दिया गया है। काव्य-प्रेमी जानते हैं कि काव्य एक प्रकार से वक्रोक्ति होता है। किसी भाव की मन पर गहरी और मार्मिक अपील के लिए लक्षणा-व्यंजना का टेढ़ा मार्ग पकड़ना ज़रा आवश्यक हो जाता है (यों स्पष्ट कथन व सादगी का अपने आप में एक सात्विक सौन्दर्य होता है, इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं)। कहने का आशय यह है कि शैली-पक्ष में अभी वह परिष्कार और वैचित्र्य नहीं है जो आगामी कृतियों में आने वाला है। फिर यत्र-तत्र कुछ महत्त्वपूर्ण काव्यात्मक विशेषताएँ झँपक ही जाती हैं।

प्रकृति 'प्रसाद'-काव्य का अपरिहार्य अंग है। प्रस्तुत कृति का आरम्भ पत-झड़ के भीषण आतक, प्रवल प्रभंजन तथा सूखे पत्तों के खड़खड़, आदि के साथ होता है। प्रकृति के कोमल पक्ष से हटकर इस परुष अथवा कठोर पक्ष की ओर भी दृष्टि डालना कवि की भावुकता की विस्तृत परिधि को सूचित करता है। घोर अंधेरे में पवन के तुमुल घात-प्रतिघात से आन्दोलित क्षुब्ध जल-राशि की भी कवि सुन्दर कल्पना करता है। सौम्य और कोमल वर्णनों में अर्बुदगिरी की सन्ध्या तथा सरिता-स्रोत के लघु चित्र मोहक हैं। प्रकृति में कवि ने चेतना का भी आरोप किया है। वह जड़ ही नहीं, चेतन भी है। दुखी मनुष्य को आश्वा-सन भी देती है। प्रकृति के कार्य-व्यापारों के द्वारा कवि ने जीवन व जगत् के नैतिक व दार्शनिक तथ्य भी हमारे सामने रखे हैं।

प्रस्तुत कृति की भाषा में ओज है और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। उसमें गति और धारावाहिकता मोहक है। 'पत्र भी एक न थे उनमें', 'कुसुमों की क्या कथा' में 'पत्र भी एक न था' या 'पत्र भी एक न थे'—दोनों में से कौनसा प्रयोग शुद्ध है, यह विचारणीय है। 'क' की आवृत्ति में वृत्यनुप्रास का सौंदर्य सहज ही आ गया है। 'वेगम', 'हकीम', 'चक्कर', 'हरम', 'मालूम', जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु यवन पात्र भी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी वोलते हैं, यह भी उस युग के लिये

कुछ अस्वाभाविक-सा ही लगता है। अर्थालंकारों में उपमा-रूपक का सौंदर्य कई जगह मनोहर है। 'दुग्ध-फेन-निभ शय्या को यों छोड़कर' तथा 'अस्त होते दिनकर के प्रकाश में अर्बुदगिरि की धनी शैलमाला ऐसे शान्त थी जैसे कर्म-योगरत मानव को जीवन के शेष में शुभ शान्ति मिलती है'। उक्तियों में उपमाओं का अच्छा सौंदर्य है। 'परम्परित रूपक' का यह उदाहरण सुन्दर है-—

"सुयस-लता की बीज उर्वरा-भूमि में,
शान्ति-वारि से सिञ्चित हो, फलवती हो।"

कहीं-कहीं सूक्तियों का भी प्रयोग मिलता है। यथा—

(१) **"परम सत्य को छोड़ न हटते वीर हैं।"**

(२) कहा कि—

"सज्जन से हो यदि अपमान भी
अच्छा है दुर्जन-कृत बहुसम्मान से।"

नुहाविरे का भी एक प्रयोग देखिये—

"यह थोथा पांडित्य न आप बघारिये।"

कवि ने स्थान-वर्णन में भी अच्छी सहृदयता दिखाई है। अकबर के साम्राज्य-भवन का वैभव तथा खानखाना के रंग-भवन के विलासपूर्ण वातावरण को भी कुछ ही पंक्तियों में सुन्दरतापूर्वक दर्शा दिया है। शारीरिक चेष्टाओं (अनुभवों) या मुद्राओं की भी कहीं-कहीं सुन्दर कल्पना की गई है। दीन-जीवन पर भी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डाली गई है। भावों में ग्लानि, क्षोभ आदि संचारियों की अच्छी स्थिति दिखाई गई है। कहीं-कहीं उद्बोधन या ओजपूर्ण भाषण का भी अच्छा प्रभाव डाला गया है पर उसमें काव्यत्व कम ही दिखाई पड़ता है। संवादों में पर्याप्त स्वाभाविकता है और कहीं-कहीं नाटकीय स्थितियों की भी अच्छी कल्पना की गई है। प्रताप के चरित्र-चित्रण में भारतीय संस्कृति की आभा कहीं-कहीं मनोहर ढंग से प्रस्फुटित हुई है। आकाशवाणी जैसे अतिप्राकृतिक (Supernatural) तत्त्व का भी समावेश इस कृति में हो गया है।

प्रेम-पथिक*

प्रेम-पथिक' 'प्रसाद' जी की एक अनूठी कृति है। शिरीष-जूही के पुष्पों से तौलने पर इसका मूल्य एक सुकुमार हृदय या हीरे की किरण आँका जायेगा। २६ पृष्ठों की इस छोटी सी 'कितविया' में प्लेटो और शंकर का सारा आदर्श-वाद निचुड़ गया है। वस्तु तत्त्व, रोमांस-कल्पना, भावुकता, काव्य-शैली और आदर्श जीवन-दृष्टि सबका यहाँ सुखद अनुपात में मेल हो गया है। क्षुब्ध और कुपित होकर आकाश-पाताल में आग लगा डालनेवाली मानव-हृदय की आदित्रासिनी यह प्रणय-कामना, सौम्य होकर, निखरकर, शालीन होकर मानवात्मा को शुभ्रता, शान्ति और शिवत्व के कितने ऊँचे लोकों में उड़ा ले जा सकती है, इसका अनुभव करना हो तो 'प्रेम-पथिक' का बार-बार पारायण करना कल्याणकारी व आनन्ददायक होगा। भिन्न-तुकान्त ३० मात्राओं की पंक्तियों वाले तथा सहज-मधुर गति से टलमल टलमल करके बहने वाले छन्दों में दो भग्न-हृदय की यह अमर प्रेम-कहानी संसार के प्रेम काव्य की अमूल्य निधि समझी जायेगी।

'प्रेम-पथिक' की कहानी की मोटी-मोटी रेखायें ये हैं—पथिक 'आनन्द-नगर' का निवासी है। उसके पिता अन्तिम क्षणों में उसे अपने एक मित्र को सौंप जाते हैं। पथिक पिता के मित्र के यहाँ रहता है जहाँ उनकी लड़की पुतली के साथ रात-दिन खेलता-कूदता है। प्राकृतिक वातावरण में निरन्तर स्वच्छन्द विचरण के कारण दोनों में घनिष्ट तादात्म्य स्थापित हो जाता है। एक दिन पुतली की सगाई हो जाती है और विवाह होने को है। पथिक ठेस खाकर आनन्दनगर छोड़कर विशाल संसार में भटकने को निकल पड़ता है और रेगिस्तान, मैदान, पर्वत-प्रदेश आदि में मन का घाव लिए राख छानता फिरता है। उधर पुतली का विवाह हो जाता है किन्तु उसे अपने पत्थर के देवता की आराधना में ही दिन काटने पड़ते हैं। पति की मृत्यु हो

---

*प्रथम संस्करण सन् १९१३ (सं० १९७०)। प्रथम संस्करण का 'निवेदन' माघ शुक्ल ५, सं० १९७० का लिखा हुआ है। कवि के अनुसार यह काव्य उक्त तिथि से ८ वर्ष पूर्व (सं० १९६२) ब्रजभाषा में लिखा गया था। "जिसका कुछ अंश 'इन्दु' के प्रथम भाग में प्रकाशित भी हुआ था। यह उसी का परिवर्तित परिवर्द्धित, तुकान्त-विहीन हिन्दी रूप है।"

जाती है और रूपवती विधवा पुतली जीभ लपलपाते कामी कुत्तों से अपनी लाज और यौवन बचाने का भरसक उद्योग करती है। एक सात्विक व सदाशयी वृद्ध उसे अपने गाँव की भूमि पर एक शान्त कुंज बसाकर ईश्वर-भजन में दिन काटने की सलाह देता है। वह वहीं जाकर रहने लगती है। एक दिन एक पथिक आता है। थकावट के कारण रात भर वह वहीं विश्राम करता है। पुतली, जो अब तपस्विनी के वेश में रहती है, उसे अपनी कहानी सुनाने को कहती है। दोनों एक-दूसरे को पहचानते हैं। भावुक पुतली का प्राचीन मोह जगता है किन्तु पथिक सच्चे प्रेम और वास्तविक सौन्दर्य की व्याख्या करके उसका मोह भंग करता है और वह पुतली को अपने साथ आत्मा के लोक का पथिक बनने का उपदेश करता है। वह गले से गले न लगकर हृदय से हृदय मिलाना चाहता है। यहीं कहानी समाप्त हो जाती है।

कहानी के इस स्थूल शाखा-जाल में 'प्रसाद' ने कल्पना और भावुकता के बल पर जो पत्र-पुष्पों का वासन्ती विकास दिखाया है वह बड़ा ही नयनरंजक व आनन्ददायी है। रोमांटिक प्रेम की मोहिनी से सारी कृति एक अभिनव रस और सुगंध से गीली और उल्लसित हो रही है। बड़ी ही तल्लीनता और रसात्मकता के साथ और बड़े आयोजनपूर्वक कवि अपनी कहानी आरम्भ करता है। आरम्भ में ही चमेली के प्रतीक द्वारा सुकुमार व भोली कन्याओं के जीवन व भविष्य का जो भावुकता व सहानुभूति से परिपूर्ण चित्र कवि प्रस्तुत करता है वह सहृदयों को मुग्ध कर देता है। कवि सीधी-सादी अभिधा-शक्ति के बल पर सब कहानी कह रहा है पर अभिव्यक्ति की सच्चाई, वर्णन की तल्लीनता (जैसे, आनन्दनगर तथा पुतली की कुटी चतुर्दिक प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में) और भाषा के संगीतमय प्रवाह तथा प्रसाद-माधुर्य आदि गुणों के सम्मिलन से सारी रचना में एक ऐसी तरावट, मिठास और जीवंतता आ गई है कि जी बार-बार इस प्रेम-कल्पना में आत्म-विस्मृत हो डूब-डूब जाना चाहता है! प्रेम में निराश हो, घर छोड़, आँखों में सौन्दर्य का एक अमिट स्वप्न लिये वन-वन की धूल छानते फिरने की कल्पना ही कितनी रसीली और रमणीय है। इस भावना में सहृदय मात्र के लिये एक स्वाभाविक आकर्षण है और इस कृति के साथ प्रत्येक पाठक के साधारणीकरण का रहस्य भी आकर्षण में निहित है।

इस प्रेम-कहानी के तल में प्रसाद के विचार और गम्भीर जीवनानुभव भी

सन्निहित हैं। जगत्, जीवन, परिवर्तनशीलता, मैत्री आदि सम्बन्ध पर कवि ने बड़े ही मार्मिक विचार व्यक्त किये हैं। जीवन-व्यवहारों में कुटिल संसार में 'प्रसाद' ने जो कुछ अनुभव किया वह हमारे लिये उन्होंने रख दिया। 'कानन कुसुम' में कवि ने विश्व-ग्रहस्थ को नमस्कार किया है। 'प्रेम-पथिक' में भी सच्चरित्र सन्तुष्ट गृहस्थों की वन्दना की है। नारी-जीवन की विवशता, विधवा, जीवन की करुणा व विडम्बना, विवाह-सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य आदि महत्त्वपूर्ण सामाजिक विषयों पर भी कवि ने महत्त्वपूर्ण संकेत किये हैं। एक समाज-शास्त्री अथवा सामाजिक भविष्य-दृष्टा की तरह 'प्रसाद' ने आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व जो आदर्श 'आनन्दनगर' का चित्र अंकित किया था वह कितना प्रेरणाकारी, आदर्शात्मक व साथ ही व्यावहारिक है। आदर्श गाँव की कल्पना 'प्रसाद' ने तितली में रखी ही है। 'आनन्दनगर' का चित्र देखिए—

> "सच्चरित्र, संतुष्ट गृहस्थों की थी जन्मभूमि नगरी,
> दया स्रोत सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।
> गोचरभूमि रही विस्तृत नगरोपकंठ में हरी-भरी
> दुग्धशालिनी गायों का जब झुण्ड दिखाई पड़ता था
> तब निरोगिता को प्रत्यक्ष विचरते लोग निरखते थे।
> कृषक-समूह जहाँ सन्ध्या को ग्राम्य गीत सुख से गाते।
> वे सीमा के खेत शस्य से श्यामल हो लहराते थे।"

इस कृति के उत्तरार्द्ध में जो इसके आकर्षण का मुख्य आधार बन जाता है वह है 'प्रसाद' की आदर्श प्रेम सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा। 'प्रसाद' ने पथिक के मुख से अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रेम की 'प्रसाद' ने अत्यन्त व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा करके मानव-आनन्द और विश्व-कल्याण इन दोनों ही भावनाओं को अमर प्रेम रस से संतुष्ट कर दिया है। क्षुद्र वासना का उबाल या त्वचा का स्पर्श मात्र प्रेम नहीं। प्रेम ही जीवन की संजीवनी है, विश्व की मूल प्रेरणा है, आत्मा का रस है और साक्षात् ईश्वर है। ऐसा प्रेम ही आत्मा को मुक्त कर सकता है। 'प्रसाद' ने अपनी प्रेम-धारणा स्पष्ट शब्दों में रख दी है—

> "पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
> घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
> प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,

तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पाओगे;
प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे,
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।"

इस प्रकार कवि ने आदर्श सौन्दर्य की भी कल्पना रखी है। परमेश्वर ही चिर-सुन्दर है। विश्वमात्र में केवल उसकी ही सुन्दरता छाई है। व्यक्तियों, पदार्थों और प्रकृति में जो सौन्दर्य है वह तो उसका कणमात्र है, उसकी छाया मात्र है—

"स्नग्ध, शांत गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधासागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।"

इस प्रकार 'प्रेम-पथिक' की मूल प्रेरणा हमें तो यही आदर्श व अविनाशी प्रेम-सौन्दर्य की भावना या धारणा का प्रकाशन ही लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य की यही ऊँचाई सर्वत्र निभायी है। वासना और विलास केवल विरोध (Contrast) के लिए ही उपस्थित हुए है; आदर्श प्रेम और सौन्दर्य को और भी अधिक चमकाने के लिए।

'प्रेम-पथिक' में कुछ अन्य बातें भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'करुणालय' की तरह इसमें भी अति प्राकृतिक तत्त्व (Supernatural element) एक स्थान पर दिखाई पड़ता है; चन्द्र-विम्व से देवदूत-सा एक उज्ज्वल व्यक्ति निकलता है और आदर्श प्रेम के स्वरूप की आकाशवाणी करता है। कहीं-कहीं शाश्वत तथ्य को सूक्ति या सुभापित के रूप में बहुत सुन्दरता के साथ रखा गया है जैसे मनुष्य की महान् पर यह सूक्ति—

"किसी मनुज का देख आत्म-बल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम, करुणा गंगा-यमुना की धारा वही नहीं
कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में-उसमें अन्तर है।"

(चतुर्थ पंक्ति, यद्यपि मात्राओं की संख्या ठीक है, पढ़ने में जीभ को असुविधा भी होती है।)

कहीं-कहीं प्रणय-क्षेत्र की रमणीय नारी-मुद्राओं की भी सुन्दर कल्पना की गई है—जैसे, कली का मानवीकरण करके उसका हरे पत्र व कोमल किसलय में अपने अंग छिपाने के प्रयत्न की कल्पना या उसके निर्निमेष हो तन-मन की सुध भूलकर हँसने की कल्पना। 'प्रेम-पथिक में 'प्रसाद' की कुछ अत्यन्त ही सुन्दर उपमाएँ प्राप्त होती हैं; यथा—द्रुमदल आच्छादित कुटीर पर चढ़ी हुई लतिका ईश दया सी छाई है, दुखपद दलिता छाया सी एक तापसी बैठी है भग्न हृदय (पथिक) उस घर से तरु से टूटे फूल की तरह बिछुड़ गया, उत्साह सदृश अभिनव उज्ज्वल आलोक वहाँ फैल गया, उसके मुख पर, सरोवर में लहरी-लीला जैसे बहुत भाव झलक गये (सूक्ष्म उपमेय की उपमा स्थूल उपमान से), शिशिर के बूँद सदृश वह उन्मादक रूप (पुतली का स्निग्ध सौन्दर्य, लावण्य, अलस कटाक्ष, घुँघराले बाल आदि) ढुलकल गया, सर्वत्र हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था, धीरे-धीरे स्वर-लहरी सी मूर्ति वहीं लुप्त हो गई, आदि। रेखांकित स्थलों में स्थूल उपमेयों के लिए सूक्ष्म उपमानों के चयन में कवि की गहरी भावुकता और कल्पना सूचित होती है। इसी प्रकार कुछ रूपक भी सुन्दर हैं; यथा—हरी डाल को सुखद हिंडोला बनाना। ये दो 'सांग रूपक' कितने सुन्दर बन पड़े हैं—

> **"ताराओं की माला—कबरी में लटकाये, चन्द्रमुखी,**
> **रजनी अपने शान्ति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।"**
>
> × × ×
>
> **"अहा चमेली का सुन्दर मुख हृदय-गगन में उदित हुआ**
> **प्रेम-सिन्धु प्रतिबिम्बित हो शत-शत रूप बनाता था।"**

सारी पुस्तक का कलेवर स्मरण, वर्णन और सम्वादों के द्वारा निर्मित हुआ है। करुणालय का-सा नाटकीय सौन्दर्य इसमें नहीं खिल सका। पुतली प्रायः मौन है अतः पथिक का ही निरन्तर बोलते चलना जरा उबा-सा देता है। यदि कवि चाहता तो छोटे-छोटे क्षिप्र सम्वादों की भी सृष्टि करा सकता था और नाटकीय तत्त्वों का अधिक कौशलपूर्ण समावेश करके इसमें अधिक स्फूर्ति तथा नाटकीय चांचल्य ला सकता था। पर भारी व विपण्ण मन के पात्रों में

अधिक उत्साह वह शायद जगाना नहीं चाहता था (**उत्तेजित कर मन दौड़ाओ करुणा का विश्रान्त चरण है**—'लहर') ।

और अन्त में जीवन के कलाकार और आचार्य 'प्रसाद' की जीवन-कल्पना 'प्रसाद' जी अधिकार-दृप्त महत्त्वाकांक्षा व वैभव की चकाचौंध से दूर सात्त्विक शीतल, मधुर, सरल और विश्वासपूर्ण जीवन का सलोना सपना आँखों में लिये जीने वालों में से थे । संसार की आँखों को बिजली की क्षणिक कौंध से चमत्कृत करके अपनी मिथ्या महानता का छद्मपूर्ण प्रदर्शन करना उन्हें इष्ट न था । जीवन की सारी व्याख्या उन्होंने मनुष्य के इसी स्वरूप को सामने रखकर की है । 'प्रेम-पथिक' में प्रकारान्तर में इसी सरल, सादे, निष्कपट और स्वच्छ जीवन के प्रति आकर्षण व्यक्त हुआ है । सारी प्रकृति, सारा चिन्तन और कार्य-व्यापार (यद्यपि ये एक विशेष एकांगी जीवन से ही सम्बन्ध रखने वाले अतः व्यापक व बहुमुखी जीवन के द्योतक नहीं हैं) आत्मा की सरलता, निश्छलता और मधुरता-पवित्रता के ही रस से गीले दिखाई पड़ रहे हैं ।

इस प्रकार 'प्रेम पथिक' 'प्रसाद' के आदर्शवादी जीवन-दर्शन की कल्पना से समन्वित एक रमणीय कृति है जिसमें हिमालय की ऊँची चोटियों पर बहनेवाले पवन की पावनता, निश्चिन्तता और मुक्ति का आस्वाद है ।

झरना*

'प्रसाद' जी का 'झरना' छायावादी काव्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है । कवि के मनोविकास के अध्ययन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व निर्विवाद है । यों तो छायावादी काव्य-शैली के मूल उद्गम सुदूर धूमिल दिशाओं में ही कहीं मिलेंगे किन्तु जिस काव्य-संग्रह को उक्त शैली के सर्वप्रथम प्रवर्त्तन अथवा उद्घाटन का पर्याप्त प्रामाणिकता व निश्चय के साथ, श्रेय दिया जाता है अथवा दिया जा सकता है वह 'झरना' ही है । काव्य में अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद के सम्बन्ध में, नवीन कविता के विश्लेषण-विवेचन के प्रसंग में,

---

*प्रथम संस्करण, सन् १९१८ (सम्वत् १९७५) । द्वितीय संस्करण (सन् १९२७) में सन् १८ और सन् २७ के बीच लिखी गईं कुछ नवीन कविताएँ सम्भवतः और जोड़ी गईं । 'झरना' के प्रकाशन के समय कवि की आयु लगभग २९ वर्ष की थी ।

जो वाद-विवाद कालान्तर हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में चले वे भी बहुत कुछ 'झरना' में प्रकाशित कविताओं से प्रेरित-उत्तेजित हुए थे। संस्कृत में ध्वन्यालंकार आनन्दवर्धन ने मुक्तक कविताओं अथवा गीतों में निहित जिस ध्वनि व आन्तरिक लावण्य की बात कही थी वह आधुनिक हिन्दी-कविता में 'झरना' की कविताओं में ही सहृदय काव्य-रसिकों को अनुभूत हुआ। 'झरना' केवल पानी के झरने का ही वाचक नहीं है। वह कुछ "छिपी हुई गहरी बात" (बात कुछ छिपी हुई है गहरी। मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।।) का प्रतीक तथा व्यंजक है। कवि ने ग्रन्थारम्भ में ही 'झरना' की अभिधा से आगे उसकी लक्षणा व व्यंजना को हृदयंगम कराया है। छायावाद की काव्य-शैली के जितने विधायक तत्त्व हैं वे बीज-रूप में प्रायः सभी 'झरना' की कविताओं में मिल जाएँगे। इन सब दृष्टियों से 'झरना' का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

पुस्तक का नामकरण बड़ा भावनापूर्ण है। 'झरना' शब्द का उच्चारण करते ही उसकी सुदूर निभृत वनप्रदेशीय स्थिति, निरन्तर कलकल-नाद, अजस्र रस प्रवाह, चारों ओर का शाँत-शीतल वातावरण और इन सब के द्वारा कवि की भावुकता, एकान्त-प्रेम, मानसिक एकाग्रता, गांभीर्य तथा प्रेममग्नता सहज ही ध्वनित हो उठती है। 'झरना' में (भारती भण्डार के तृतीय संस्करण के अनुसार कुल ४८ छोटी-छोटी कविताएँ संग्रहीत हैं जो छोटी साइज के कुल ८२ पृष्ठों में आ गई हैं।) 'झरना' का एक ही विषय है—प्रेम (प्रणय) और उसकी एक ही प्रेरणा है—प्रेम ! वर्षाकाल की गद्गद भरी पहाड़ी झील की तरह यह कृति आदि से अन्त तक प्रेम-रस से छलछला रही है। 'लहर' में प्रेम के मिलन और विरह—दोनों का खटमिट्ठा स्वादिष्ट व पौष्टिक जीवन-रस है, अभी इसमें 'लहर' की मादक स्मृति-कराह और 'आँसू' का विस्फोट और प्रलय नहीं है। 'झरना' द्वादशी-त्रयोदशी की चाँदनी रात है जिसमें साँझ से ही हल्का-सा अन्धड़ या गर्दोगुवार चल रहा है। अभी कवि का हृदय शीशे की चिमनी-सा तड़क नहीं गया है, अभी किसी कोमल शिरीप ने कवि के हीरे से सख्त हृदय को कुचल नहीं डाला है। कवि बड़ी आशा के साथ प्रेम-पथ पर बढ़ रहा है। हरियाले या पथरीले तटों से लहरों की क्रीड़ा —नोक-झोंक—चल रही है ! चट्टान की चोट लगे तो लगे, लहरों पर चाँद की किरणों के चित्र तो बन ही रहे हैं।

'लहर' का अध्ययन करते समय दो ही बातें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं—(१) आश्रय (कवि) के भावों का अपार वैभव, और (२) आलम्बन (नायिका) का रूप-सौंदर्य और आंतरिक शील-सौंदर्य। 'लहर' का सारा वज़न, उसकी आभा और उसका प्राण कवि का प्रणय-सम्बन्धी रंग-बिरंगी व विविध भावनाओं में निहित है। कवि की प्रेम बड़ा ही गंभीर और उदात्त है। वह हृदय का समर्पण करने को विकल है। 'नव यौवन की प्रेम-कल्पना' लिये कवि हृदय का दान करने को ललक रहा है। वह प्रेम का जय-गान कर रहा है और चाहता है कि विश्व में सर्वत्र प्रेम की पताका फहराती रहे। आज कवि के रत्नाकर-हृदय में अगाध गंभीरता व विश्वास समा गए हैं और वह इस बात का आश्वासन दे डालना चाहता है—

'शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम ! तुमको शंका केवल है।
× × ×
खरी वस्तु है, कहीं न इसमें बाल बराबर भी बल है।"

आज कवि को अनुभव हो रहा है कि प्रेम आत्मा का सम्बन्धसूत्र है और दो आत्माओं के परिचय और सम्बन्ध का ही नाम 'प्रेम' है। कवि प्रेम की पवित्र परछाईं का अनुभव कर रहा है। लालसा से हरी वृक्ष की झाँईं में उसके प्रेम का झरना बह रहा है। आज कवि उस चिर सुन्दर के स्पर्श की गुदगुदाहट का भी स्मरण कर रहा है जिसकी मधुर सरस शान्त सुछवि सदा के लिये आँखों में विश्राम करने आ गई है। प्रिय चाहे आँख से दूर हो किन्तु कवि उसके साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव कर रहा है। इसलिए मन मधुर स्वर्गीय गान गा रहा है, कुसुम मकरन्द की वर्षा में प्राण-पपीहा आनन्द में बोल रहा है, प्रेम के तीर्थ में स्नान करके मन पवित्र व उत्साहपूर्ण हो गया है। मन में एक विचित्र पुलक है, चंचलता है, व्याकुलता है।

पर मिथ्या कल्पना कहाँ तक साथ दे ! जो यथार्थ सत्य है उसकी उपेक्षा कहाँ तक की जाए ! सत्य यह है कि प्रिय आँखों के आगे नहीं है। उसे देखने को मन प्रतिक्षण विकल है। इसलिए मन विषादपूर्ण है और विश्व निर्जन सुन-सान लग रहा है। कवि का मन अपने चारों ओर के स्वार्थपूर्ण वातावरण से उकताकर अपनी सुधियों को सहलाने तथा कल्पना को मुक्त विचरने देने के लिए "सुदूर निभृत निर्जन" में भटक रहा है। उसे विश्वास भी है ईर्ष्यालु

समाज के बीच दो आत्माएँ स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं मिल सकतीं। कवि विश्वास के स्वर में प्रिय को पूछता है—

"कहाँ मिलोगे, किसी विजन में न हो भीड़ का जब रेला।"

इस गंभीर प्रणयानुभूति के बीच कवि का मन भावों की भीड़ का नीड़ हो गया है। मन ही मन वह प्रिय के रूप व उसकी मुद्राओं पर रीझ उठता है, वह उपालंभ भी दे देता है, कभी-कभी उसे एक अज्ञात संकोच की भावना भी आ दबाती है, कभी वह क्षुब्ध भी हो उठता है, लज्जा-ग्लानि का भी शिकार हो जाता है। ऐसा भावाकुल हृदय हल्का होने के लिए मुखर या वाचाल न हो जाय तो बात क्या ! हृदय का हौसला तो देखिए कि इस वाचालता की समाप्ति का यदि कोई साधन है तो प्रिय का एक चुम्बन ही !

कवि ने कहीं प्रिय स्पर्श का सुखानुभव किया है और वह चाहता है कि एक बार प्रिय प्रभात की कांतिमान अरुण किरण के समान फिर उसे छूकर चेतन्य व प्राणवान कर दे ! इसके लिए उसके स्वर में कितनी अनुनय-विनय है, उस अनुनय-विनय में कितनी विवश करुणा बज रही है, यह केवल कवि ही जानता है ! इस सब स्थिति से कवि इतना संवेदनशील हो चला है कि उसका मन अपनी कमलनयनी की बरौनियों का स्पर्श सह सकने में भी असमर्थ है—

"कोर बरौनी कान लगे हाँ इस कोमल मन को मेरे,
पुतली बन कर रहें चमकते प्रियतम हम दृग में तेरे !"

यह है 'झरना' का रसार्द्र भाव-वैभव।

जो ऐसे मंजुल और रंजनकारी भावों की प्रेरिका है यह रूपसी कैसी होगी ! है तो वास्तव में वह इसी कंकड़-पत्थर की भूमि पर चलनेवाली किन्तु भावोत्कर्ष में कवि ने कल्पना के बल पर उसे कितनी सूक्ष्म कोमल बना दिया है, देखिए—

"रंजित कोमल बादल नभ में छा गये,
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।"

आइए, कवि के दिये हुए संकेतों के आधार पर हम उस नायिका की मूर्ति गढ़ें ! चीनांशुक (रेशम) का सुन्दर परिधान पहने वह निष्कलंक रूप, वंकिम भ्रू और कुटिल घने कुन्तल वाली है। सुन्दर और कोमल कबरी का भार है। नील कमल से नेत्र चंचल हैं और मद से भरे हुए हैं। हिमखण्ड से कोमल अरुण

राग से रंजित उसके सुन्दर गोल कपोल हैं और नासा सुढर। हँसते समय बढ़ने वाली चपला-सी ग्रीवा है। रूप के समुद्र की चंचल लहरों के समान उसकी उज्ज्वल-धवल हँसी मनोमोहिनी है। मुक्तागण में लिपटे कोमल कम्बु में चमकीली चंचल चितवन की शोभा आकर्षक है। मुख की छवि किरणें प्रकाश फैलानेवाली हैं, मंथर गति अरुण अपांग और मधुहास तथा रूप की इठलाहट सब उस मोहिनी के सौंदर्य में मिठास भरने वाले हैं। टेढ़ी चितवन से वह प्रश्न करती है। इस सौंदर्य को कवि मन ही मन रूप-चर्वणा करके उस रस को आत्मसात् कर रहा है, मौन रहकर पचा रहा है और पुष्ट हो रहा है। कवि की कामना है कि वह रसवती सदा पुलकित प्लावित रहे। मीठी मीड़ों से नूपुर की झंकार आती रहे। गलबाँही देने के लिए वह हाथ बढ़ावे। कवि उसकी संजीवनी शक्ति के प्रति इतना आश्वस्त है कि उसका शीतल सुख-परिरम्भ संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगा। कवि इस सौंदर्य के प्रति आज इतने चुम्बकीय आकर्षण का अनुभव कर रहा है कि हम दोनों के बीच सारा विश्व भी आकर खड़ा हो जाए किन्तु पारस्परिक विश्वास व प्रेम की शक्ति से यह व्यवधान मुझे बाल बराबर भी नहीं लगेगा।

भावुक व कल्पनाशील प्रेमी हृदय की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने प्रिय को संसार के पाप-ताप से बचाने के लिए कल्पना के ऐसे सुरम्य, शान्त, एकान्त, स्वच्छ व प्रकाशमान् लोक में पहुँचा दे जहाँ वह अमर श्री व सुषमा से मण्डित होकर उसे शाश्वत आनन्द, अखण्ड प्रेरणा व जीवनोल्लास मुट्ठियाँ भर-भर उसे लुटाता रहे। इस मनोवैज्ञानिक व प्राकृतिक प्रयत्न में वह प्रिय सौंदर्य-लोक की एक सूक्ष्म-रमणीय सत्ता मात्र शेष रह जाता है और उसके रूप-वर्णन अथवा उसके प्रति प्रकट हुए सब उद्गारों में एक सहज दार्शनिकता, आध्यात्मिकता या रहस्यात्मकता की प्रतिष्ठा हो जाती है। आत्मा के उत्कर्ष में, कल्पना के बल पर 'प्रसाद' के सौन्दर्यप्राण-पात्र रहस्य के झिलमिल आवरण में बड़े ही सूक्ष्म, कमनीय व रहस्याविल हो जाते हैं। 'झरना' की नायिका भी इसका अपवाद नहीं। वह सौन्दर्य सत्ता अपने विकास के क्रम में सूफियों की ब्रह्म की ज्योति अथवा वेदान्त के ब्रह्म या साँख्य के पुरुष की तरह ही हो जाती है और फिर वही नायिका पुरुष के रूप में इस प्रकार वर्णित की जाती है—

"शशि मुख पर घूँघट डाले, अँचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूलि में, कौतूहल से तुम आये।"—आंसू

मन की इस ऊँचाई पर जब प्रिय से आत्मिक साक्षात्कार होता है तो स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आता है और सृष्टि आलोकमयी हो उठती है। 'मिलन' की यह अनुभूति आत्मोल्लास की भावना से कैसी अनुप्राणित व झंकृत है—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलों का स्वर विपंची नाद भी
चन्द्रिका मलयज पवन, मकरन्द औ
मधुप माधविका कुसुम से कुञ्ज में
मिल रहे, सब साज मिल कर बज रहे
आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ।
तुंग तरल तरंग ऐसी उठ रही—
शीतकर शतशत उदय होने लगे,
तारिकाएँ नील नभ में आज ये,
फूल की झालर बनी हैं शोभनी।
गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें,
अन्तरिक्ष विशाल में है मिल रही,
चन्द्रकर पीयूष वर्षा कर रहा।
दृष्टि पथ में सृष्टि है आलोकमय,
विश्व-वैभव से भरा यह धन्य है।

रेखांकित पंक्तियों में मिलनानुभूति के माध्यम से कवि की आत्मा की ज्योति-किरणें फूट पड़ी हैं।

अनंत पथ, अनंत जीवन, शून्य अनंत आदि पदावली में जो वास्तविक रहस्य-भावनाएँ संकेतित हो रही हैं वे आत्मिक प्रेमानुभव का ही प्रसाद है। 'चिह्न' नामक कविता में वास्तविक रहस्य-भावना प्रकट हुई है और उसमें अनंत जीवन-पथ पर प्रेम की शक्ति व प्रकाश का बड़ा ही मोहक संकेत मिलता है।

क्यों, कौन, कैसा, किसका, किसको, और किस आदि शब्दों के ध्वन्यात्मक प्रयोग द्वारा कवि ने 'झरना' में यत्र-तत्र जो जिज्ञासा, कौतूहल या रहस्य की ध्वनि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है वह सहृदयों को अवश्य तरंगित करता है।

अन्य कृतियों की तरह 'झरना' में भी प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति यहाँ प्रतीकों के रूप में तथा अलंकार-निरूपण में अप्रस्तुत-विधान में सर्वाधिक प्रयुक्त हुई दिखाई पड़ती है। स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में भी कहीं-कहीं वह प्रयुक्त हुई पर उतनी नहीं। मलज, उषा, सरसिज, मधुर मकरन्द, परिमल, वल्लरियाँ, कलियाँ, मेघ, प्रभात, छाया-पथ, राका, रजनी, मधु, वर्षा, हरियाली लहर, मल्लिका, मालती, पपीहा, मधु, किसलय आदि प्रकृति के पदार्थ उपमा रूपक उत्प्रेक्षादि के लिए साधारण उपमान के ही रूप में नहीं आये हैं किन्तु हृदय पर इन पदार्थों के गंभीर व दीर्घकालीन प्रभाव को परखकर वे भावोत्तेजक प्रतीकों के रूप में ही आये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि प्रकृति के मधुर कोमल रूपों से ही सम्बन्धित होने के कारण ये सब पदार्थ अपने समन्वित रूप में कवि की भोगमयी, प्रवृत्तिमयी या आनन्दमयी जीवन-दृष्टि के ही परिचायक हैं। प्रकृति के प्रयोग द्वारा कवि का प्रकृति के प्रति सामीप्य-जन्य प्रेम व उसका सूक्ष्म निरीक्षण भी भली भाँति सूचित होता है। कवि ने कहीं-कहीं नीतिपूर्ण उपदेश भी दिये हैं किन्तु वे भी प्रकृति के रूप व्यापारों के माध्यम से दिए जाने के कारण सरस हो गए हैं। धूसर, अरुण, हरित आदि शब्दों द्वारा कवि की रंग-भावना का भी परिचय मिलता है।

'झरना' की भाषा खड़ीबोली हिन्दी है किन्तु अभी उसमें कहीं-कहीं ब्रजभाषा की झलक-सी भी आ जाती है। हाँ, पुरानी रचनाओं की अपेक्षा इसकी भाषा में पर्याप्त ओज, प्रसाद तथा माधुर्य दिखाई पड़ता है। रोज, मालूम, सिचाँव, असंख (असंख्य) खराद, खटाई, कागज, गूँद, बरजोरी, ध्वान्त, सितावी, खोंट, अहमिति, कुहक, कोरदार, गर्म्म, विप्रयोग, आय, हरियारी, सुषुप्ति, मदघूर्ण, नशीली आदि अप्रचलित, क्लिष्ट, देशज व उर्दू शब्दों का प्रयोग भी पाया जाता है। 'मूल्य' और 'तुल्य' की भी तुक बैठा दी गई है।

छन्द-विधान भी विचारणीय है। कवि ने नव-नव छन्दों का प्रयोग किया है, यह बहुत प्रशंसनीय बात है। विविध छन्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि यह बात एक बहुत गहरी बात से सम्बन्धित

है। मनुष्य की वाणी भाव और विचार को सुन्दरता व पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करने के लिए अनादि काल से छटपटाती आ रही है और यह बात कवि के लिए तो सबसे अधिक तुष्टि व आनन्द का आधार है कि उपयुक्त छन्द में उपयुक्त भावना सम्यक् रूप से व्यक्त हो जाए। नव-नव छन्दों के चयन और प्रयोग से इस बात का प्रमाण मिलता है कि कवि की आत्मा कितनी जाग्रत है। वाल्मीकि को एक अनुष्टुप् छन्द मिल गया। इसमें ही उन्होंने जीवन-मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर लिया। अस्तु। 'झरना' में कवि ने प्रयोग-परीक्षण की वैज्ञानिक दृष्टि से मानो इतने छन्दों का व्यवहार किया है। कवित्त और दोहे जैसे पुराने छन्दों का प्रयोग करते हुए उन्होंने नये-पुराने छन्दों को जोड़-तोड़ करके दर्जनों नए छन्द 'झरना' में प्रयुक्त किये हैं। 'बच्चन' का प्रसिद्ध छन्द 'प्रसाद' जी बहुत पहले प्रयुक्त कर चुके थे। यथा,

"तू आता है, फिर आता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कांति अकृश,
जैसा हो, वह तू पाता है, हे वसन्त तू क्यों आता है ?
तू आता है, फिर आता है।"

'प्रसाद' जी ने 'झरना' में अतुकान्त छन्दों का भी प्रयोग किया है जिनमें विराम रेखाएँ पंक्तियों के बीच में भी आ पड़ती है। हाँ, ऐसे छन्द में लय और प्रवाह का पूरा ध्यान रखा गया है।

वातावरण में रोचकता और सजीवता उत्पन्न करने की दृष्टि से 'प्रसाद' जी ने नायक आदि के मन में अपने प्रिय से काल्पनिक प्रश्नोत्तरी का भी विधान किया है जिसमें संवादात्मकता का नाटकीय सौंदर्य बीच-बीच में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। नाटककार कवि के लिए यह बात स्वाभाविक ही थी !

'प्रसाद' जी ने 'झरना' में अनेक सुन्दर व मौलिक उपमाओं का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

(१) जीवन में पुलकित प्रणय सदृश।
(२) धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश।
(३) हृदय की बात नवीन कली-सदृश हम खोल कह चुके हाय।
फूल मल्लिका सदृश वह भी, चुप रहे जीवन-धन मुसक्याय।।

(४) मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
(५) तरल हीरक लहराता शांत, सरल आशा-सा पूरित ताल।
(६) उड़ा दो मन गुलाल-सी हाय अरे अभिलाषाओं की धूल।
(७) स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान।
(८) किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन ?
(९) शिथिल शयन संभोग दलित कवरी के कुसुम सदृश कैसे ?

इन उपमाओं में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। उपमान सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही हो सकते हैं। उपमा नं० १, २, ४ तथा ५ में उपमान कितने सूक्ष्म है। दूसरी बात यह है कि अलौकिक उपमान भी प्रयुक्त हुए हैं—जैसे उपमा नं० ७ तथा ८ में। तीसरी बात यह है कि 'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश' (उपमा नं० २) तथा 'अभिलाषाओं की धूल' (उपमा नं० ६) में लाक्षणिक वक्रता तथा मानवीकरण की कला का कैसा अच्छा सौन्दर्य प्रकट हुआ है। पाँचवीं बात यह है कि सुन्दर उपमाओं के प्रयोग में ही कवि-जीवन के निरीक्षण, कल्पना की रमणीयता, प्रकृति-पर्यवेक्षण व मौलिक तथा अभिनव सौन्दर्य-दृष्टि का प्रमाण मिलता है। 'प्रसाद' जी ने अनेक स्थानों पर सादृश्य ही नहीं; साधर्म्य अर्थात् धर्म-साम्य या गुण-साम्य के आधार पर भी अनेक सुन्दर उपमाओं का प्रयोग किया है।

अपनी वेगवान् प्रणयानुभूति के लिए कवि ने सूफियों की सामग्री भी खूब उधार ली है। उदाहरण लीजिये—

"क्लांत तारकगण की मद्यप-मण्डली,
नेत्र-निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़ककर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अन्त है॥"

× × ×

"नई कोंपल में से कोकिल, कभी किलकारेगा सानन्द।
एक क्षण बैठ हमारे पास, पिला दोगे मदिरा मकरंद॥"

× × ×

"गलबांही दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला !"

× × ×

"नशीली आँखों सदृश कहो, तुम्हारी ही, इस में है नशा ?
'गुलाबी हलका-सा' बोले, स्तब्ध हो रही मोह की निशा ॥"
× × ×
"चाहता पीना मैं प्रियतम, नशा जिसका उतरे ही नहीं ॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सूफी ढंग की आध्यात्मिक मस्ती के प्रतीकात्मक उद्गार आनन्दवादी 'प्रसाद' की जीवन-दृष्टि के साथ भी सहज ही 'फिट' होते से दिखाई पड़ते हैं।

काव्य में अनेक स्थानों पर रूखी गद्यात्मकता-सी भी आ गई है जो द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव है। नियतिवादी कवि 'प्रसाद' ने कहीं-कहीं नियति सम्बन्धी संकेत भी किये हैं। जन्मान्तरवाद सम्बन्धी भारतीय भावना भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है जो कवि के काव्य में गम्भीर स्वर उत्पन्न करती है।

इस प्रकार 'झरना' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। 'झरना', 'प्रथम प्रभात', 'रूप', 'किरण', 'विषाद', 'चिह्न', 'दीप' व 'मिलन' इस संग्रह की सबसे सुन्दर कविताएँ हैं।

आँसू*

'आँसू' 'प्रसाद' जी की एक अत्यन्त लोकप्रिय, सुगढ़, आत्मरस से परिप्लुत ...लक ...तमान व लघुकाय कलाकृति है। इसमें जीवन का करुण-कोमल पक्ष मूर्तिमान् हो उठा। लगभग ३०-३५ वर्षों से काव्य-प्रेमी हिन्दी जनता इसे शरदकालीन प्रशान्त झील की सान्ध्य कमलवनी की भ्रमरी की तरह गुंजारती रही है। ओठों पर ज्यों-ज्यों यह पिस रही है त्यों-त्यों इसकी गन्ध-मिठास अधिकाधिक फूट-फैल रही है। आम्र-मंजरी या मिर्च-मिसरी खाकर कूजनेवाली कोयल की तरह पाठक इसे बार-बार पढ़ते ही जाना चाहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बात इस कृति के कवि की आत्मा की ठेठ गहराइयों

---

*प्रथम संस्करण, सन् १९२५ (वि० सं० १९८२)। लगभग एक दर्जन संस्करण हो चुके हैं। आन्तरिक संस्करणों में कुछ संशोधन-परिवर्तन भी मिलते हैं। 'आँसू' की रचना के समय कवि की आयु लगभग ३५-३६ वर्ष की थी।

में से उत्पन्न होने की साक्षी है। और भी कारण ? और कारण यह है कि कवि की आत्मा का यह रस 'शृंगार' के माध्यम से—वह शृंगार, जिसका स्थायी भाव 'रति' है और जो जीव-मात्र की विपंची के तारों को सोते-जागते झन-झनाता रहता है और संसार के पहले अरुणोदय से ही झनझनाता आ रहा है—वेग के साथ फूटा है, झरा है और फैला है ! प्रश्न होगा कि वह कौन है जो कवि की इस अरब की आंधी-सी वेगवान् प्रेरणा का अक्षय स्रोत बना ? कवि की उक्तियाँ ही इस बात का विश्वास बँधाती हैं कि कोई हाड़-चाम की मख-निया मूरत, धीमी चाल वाली कमलचरणी, मलय पवन में रलमलाती नील-कमलिनी-सी तन्वंगी और अत्यन्त महीन काजल-रेखा वाली विधुवदनी, तीज चौथ की चाँदनी-सी मृदुल-सलोनी मुस्कान से कवि के देखते-देखते उसके नन्दन वन में शीतल आग लगा गई। रूपासक्त कवि ने उसे आलिंगन में भरना चाहा कि वह चंचला मुस्करा कर, कनखियों से देखती, चूड़ियाँ खनखनाती भाग गई। और परिणाम हो गया यह आत्म-प्रलय ! ऐसी रूपसी क्या कोई साधारण रचना है। क्या कवि को यह गवारा होगा कि वह उसे अनुपम अनिन्द्य लावण्य-वती जैसे क्षुद्र व लौकिक विशेषणों से ही विभूषित करके चैन मान ले। आप और हम भले ही मान लें कि वह काशी की किसी गली को दीपित-सुरभित करने वाली कोई मंजुमुखी होगी। नहीं, कवि के लिए तो वह एक निष्कलुष शुभ्र ज्योति थी, शक्ति की आनन्द-तरंग थी, प्रेरणा की सतरंगी संगीतमयी आँधी थी, रूप-यौवन की अविनाशी हिल्लोल थी ! रही होगी अवश्य पहले वह कोई कोकिल-कण्ठी रसवन्ती ! कवि ने काशी में ही किसी बाजार, घाट, गली में देख लिया होगा। बस फिर क्या था, गुलाब की कँटीली झाड़ियों में बसन्ती पवन में फहरता हुआ मलमली मन उलझ गया। हाँ वह गोरी कपूर की तरह आँखों के आगे से विलुप्त हो गई। कवि के पास बच गई बस केवल रुदन, उच्छ्वास, गरज-तरज, दहाड़-पछाड़, उमड़-घुमड़ और उमस-घुटन की पूँजी। ऐसे ताप-तरल क्षणों में, डूबते सूरज-सा गाढ़ा लाल या सिन्दूरी रंग का आत्मा का पिघलता-उबलता लोहा 'आँसू' के आनन्द छंद में बँधने के लिए आ ढला, प्राणों की ज्वालामुखी का लावा इसमें आकर संचित हो गया। धरती की वह मांसल मूर्ति शनैः-शनैः निर्विकार आकाश की रूप किरण बन गई, अनादि संगीत की लहरदार रागिनी बन गई, और अमर प्रेम की संजीवनी बनकर कवि की

साँसों में जन्म-जन्म के लिए यों समा गई जैसे आकाश में नीलिमा या पवन में जूही बेला की महक। यही धार्मिक विरहानुभव अभिव्यक्ति की सौ-सौ भंगिमाओं के साथ, दूब के आँसूओं की तरह, इस अमर कृति में चारों ओर बिखर पड़ा है। 'प्रसाद' का 'आंसू' भग्न हृदय की एक प्रेम-कहानी है जिसमें कवि ने मिट्टी को लौ बनाकर ही चैन लिया है। इस रूपान्तर में ही इस काव्य की आध्यात्मिकता है जो मानवी सीमाओं में रहकर ही प्रकट हुई है।

'आंसू' का कोई कथानक नहीं; है तो इतना ही कि कवि-हृदय मदन-बाण से बिधकर मूर्च्छित हो जाता है, धीरे-धीरे आँख खुलती है, अपने हाथों से ही कवि अपने हरे घावों का इलाज करता है, अपने आंसू पोंछता है, पंखी करता है, स्वर्णिम अतीत का स्मरण करता है, खोये प्रिय को एक बार फिर कण-कण में देखता है, उसकी कल्याण-कामना करता है और कवि सर्दाई, गहरी व टकराती साँस लेकर अपने भाग्य से संधि कर लेता है और इस विश्वास के साथ, धूल झाड़कर उठ खड़ा होकर फिर कंकरीले-पथरीले विश्व-पथ पर चलने लगता है कि अनन्त जीवन की पगडंडी पर कहीं-न-कहीं तो प्रिय से फिर कभी मिलेंगे ही। अन्तर्जीवन का यही करुण प्रसंग 'आंसू' का विषय अथवा कथानक है।

काव्य रूप (Form) की दृष्टि से 'आंसू' प्रवन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य न हो कर इन दोनों के बीच की रचना है। प्रवन्ध काव्य की धारावाहिक कथा इसमें कुछ नहीं और यह मुक्तक काव्य के उपयुक्त छोटी-सी सीमा में आत्म-निरपेक्ष ढंग का गीत अथवा कविता मात्र भी नहीं। कथा-विकास इसमें प्रबन्ध काव्य की-सी योजना और व्यवस्था नहीं है। हां, प्रत्येक छंद अपने आप में ओसकण की तरह शुभ्र, सुडौल व आत्मपूर्ण अवश्य है जो दूसरे छंद की कोई स्वाभाविक आकांक्षा प्रायः नहीं रखता। वस्तुतः यह एक लम्बी कविता है जिसमें वस्तु वर्णन व भाव-व्यंजना दोनों का योग है। फुटकर छंदों में मन की अनेक घुमाव-फिराव या भंगिमाओं के साथ विवृति है जिसमें बिखरे-बिखरे सम्बद्ध-असम्बद्ध भाव-चित्र हैं। सारी कृति में विषय-वस्तु का कोई सम-न्वित प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। अमर व्यथा के सूत्र में सब छंद भांति-भांति के रंग वाले फूलों की तरह गुँथ गए हैं। इस अन्विति (Unity) का अनुभव तो प्रत्येक पाठक करता ही है। सहज-प्रसन्न प्रवाहमयी जल-धारा की तरह इसमें

कोई कहानी नहीं चलती किन्तु इसके प्रभाव व आकर्षण का मुख्य आधार इसकी सूझें, रमणीय कल्पनाएँ और अभिव्यक्ति की अनेकानेक भंगिमाएँ हैं। इस प्रकार इसे हम गीतात्मक प्रबन्ध या मिश्र काव्य कह सकते हैं। इस कृति की अन्तरात्मा (Spirit) वास्तव में गीति-काव्य की ही है, गद्यात्मक वर्णन अथवा विवेचन की नहीं।

रस और कल्पना की दृष्टि से यह कृति अत्यन्त प्रौढ़ और गम्भीर है। इस काव्य की मूल चेतना प्रेम और सौन्दर्य है जिसका सम्बन्ध रस-चक्र के शास्त्रीय ढाँचे में शृंगार रस से है। शृंगार के दो पक्ष—संयोग और विप्रलंभ में से यह काव्य विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत है; यद्यपि इसकी मूल भित्ति संयोग शृंगार ही है, क्योंकि मिलन-सुख (चाहे वह अल्पकालिक या क्षणिक ही क्यों न रहा हो) की पृष्ठभूमि में ही तो विरह-व्यथा में ऐसे चोखे व चटकीले रंग आए हैं। जो हो, 'आँसू' विप्रलंभ शृंगार का काव्य है। किन्तु गहराई से देखने पर रस-सम्बन्धी कुछ और भी महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है। आचार्यों के निरूपण के अनुसार वियोग में निकटवर्ती अथवा सुदूरवर्ती पुनर्मिलन भी निहित रहता है। किन्तु 'आँसू' में तो प्रिय एक प्रकार से सदा के लिए बिछुड़ गया। तो क्या फिर 'आँसू' करुण रस की कृति है जिसका 'स्थायी भाव' 'शोक' है। ऐसा भी नहीं, क्योंकि कवि का प्रणय-मात्र दिवंगत नहीं, वह तो पृथ्वी पर ही है चाहे वह प्रिय अथवा नायक कवि के भुज-बन्धन में भले ही न हो। कवि उसे गृह-पथ में अथवा अनन्त-जीवन में पाने के लिए विश्वासशील व आशावान् है ही! फिर पृथ्वी पर हज़ार कोस दूर रहने मात्र से भी वास्तविक वियोग सिद्ध नहीं होता क्योंकि अपना प्रिय पात्र तो प्रेम-सूत्र से प्रत्येक क्षण हृदय से ही बँधा हुआ है (तुल्यानुराग या पारस्परिक प्रीति न होने पर भुज-बन्धन में बँधे या शय्या-सुलभ प्रिय से भी मानसिक दूरी के कारण वस्तुतः विरह की ही अनुभूति होती है)। इस विवेचना से यही सिद्ध हुआ कि 'आँसू' न तो शुद्ध विप्रलंभ शृंगार की ही कृति है और न करुण रस की। कवि ने स्वयं ही शृंगार को सर्वोपरि कहकर दोनों रसों का महत्त्व यों बता दिया है—

"शृंगार चमकता उनका, मेरी करुणा मिलने से।"

इसे हम 'करुण विप्रलंभ' रस की कृति भी कह सकते हैं जो मिलन की आशा और मिलन की निपट निराशा—इन दोनों स्थितियों की

स्थिति को चरितार्थ करती है। आगे विचार करने पर इसमें एक अन्य रस का हल्का-गाढ़ा मेल और भी मिलेगा और वह है—'शांत रस'। भक्ति अथवा ज्ञान की उदात्त ऊँचाइयों पर पहुँचे हुए प्रशांत व निर्विकार मन पाप-ताप से मुक्त होकर शाँत रस का गम्भीर अनुभव करते हैं। 'आँसू' का अध्ययन करने पर हमें अनुभव होता है कि प्रणयी कवि प्रेम-साधना द्वारा शनैः-शनैः निष्कलुप, व द्वन्द्वातीत होकर स्थितप्रज्ञ भाव से प्रेम-समाधि में लीन हो गया है, उसमें विरोधी भावों का तुमुल कोलाहल शाँत हो गया है। यह स्थिति शृंगार और करुण रसों की स्थिति से भिन्न है जिसके दर्शन भी हमें 'आँसू' काव्य में होते हैं। पर यह स्थिति काव्य-समाप्ति की ओर ही मिलती है अतः उसे हम शृंगार व करुण की अपेक्षा गौण ही मानेंगे किन्तु उसका इतना महत्त्व अवश्य स्वीकार करेंगे जितना उस कंचन का जो डूबते सूरज के निकटवर्ती बादलों के तटों को आलोकमंडित कर देता है। इस प्रकार विचार करने पर 'आँसू' का मूल रस विप्रलंभ शृंगार ही है किन्तु उसमें करुण और शाँत रसों का भी मधुर अनुपातों में योग है। या यों कह सकते हैं कि 'शांत करुण-विप्रलंभ' ('प्रिय प्रवास' में भी हमें बहुत कुछ यही स्थिति दिखाई पड़ती है) ही 'आँसू' का मुख्य रस है।

आलोच्य कृति में रति-भाव से सम्बन्धित अनेक मंजुल-मनोहर भाव-तरंगों का, जिन्हें साहित्यशास्त्र में 'संचारी भाव' कहा गया है, सौंदर्य भी दर्शनीय है। आशा, उत्कंठा, स्मृति, जड़ता, उन्माद, वितर्क, उग्रता आदि विविध संचारी भावों की भी बीच-बीच में सुन्दर व्यंजना हुई है।

'आँसू' का 'विभाव-पक्ष' (आलम्बन तथा उद्दीपन) भी भाव-पक्ष की तरह पुष्ट और सुडौल है। आश्रय कवि है और आलम्बन कवि की प्रेयसी 'आँसू' की नायिका। गीतिकाव्य में अथवा मुक्तक काव्य में प्रायः वर्णन की गुंजायश नहीं होती; वस्तु-वर्णन प्रायः वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्यों के ही अधिक उपयुक्त होते हैं। गीतिकाव्य अथवा मुक्तक काव्य की सुकुमारता वस्तु-वर्णन का गद्यात्मक भार उठाने में बड़ा संकोच करती है, लिहाज़ से कर दे, यह बात दूसरी है। 'प्रसाद' जी ने 'आँसू' में नायक के द्वारा नायिका के स्मरण के व्याज से रीतिकालीन नख-शिख वर्णन की मृतप्राय परम्परा को एक बार फिर दुहराया है पर बड़ी स्वाभाविकता, नवीनता व मौलिकता के साथ। नायिका के सौंदर्य-वर्णन में कवि ने अपनी कलात्मक सुरुचि, नव-नव उपमानों का चयन, सूझ की नवीनता, कल्पना-

सौष्ठव, सूक्ष्म तूलिका-कौशल, प्रकृति-निरीक्षण व प्रकृति-प्रेम, अलंकार-विधान, रूपास्वादन आदि का प्रशंसनीय परिचय दिया है। रूपकातिशयोक्ति के बल पर स्निग्ध मुखमंडल, सुचिक्कण चहचहाती कुन्तल राशि, मोतियों से भरी माँग व कांतिमान् उज्ज्वल दंतावलि की शोभा देखिए—

"बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से ?
मणि-वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?"

नायिका के सुन्दर नेत्रों की कज्जल-रेखा देखकर रूप-लुब्ध मन को जो तड़पन के दुःख का अनुभव हुआ वह तो मानो साक्षात् काला पानी का ही दण्ड था और आंख तो नीलम की नाव ही थी जो रूप की अतृप्ति के तरंगायित् समुद्र में तैर रही थी—

"तिर रही अतृप्त जलधि में, नीलम की नाव निराली,
काला-पानी वेला-सी है, अंजन रेखा काली।"

लोने-लोने कपोलों की पाली में सीधी-सादी मुसकान की रेखा और भौं की सरल कुटिलता पर यह वक्रोक्ति देखिए—

"कोमल कपोल पाली में, सीधी-सादी स्मित-रेखा,
जानेगा वही कुटिलता जिसने भौं में बल देखा।"

कवि के प्रणयपूर्ण सुख-दुःख के उद्‌गारों को सुन्दरी लापरवाह नायिका कैसा सुना अनसुना करती रहती थी, इस पर, कमल-पत्र पर से जल-विन्दु के फिसल पड़ने के प्राकृतिक तथ्य के कथन के सहारे, यह सुन्दर उपालम्भोक्ति देखिए—

"मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के,
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुःख किनके ?"

और रूप ? रूप के बारे में बस कुछ न पूछिए ! उस पावन (प्रेम की उच्चता या पवित्रता के द्वारा उसकी आध्यात्मिकता व्यंजित है, यह ध्यान देने की बात है।) शरीर की आलोक-मधुर शोभा तो कुछ ऐसी थी मानो मेघों की विजली पूनम की चाँदनी के समुद्र (रूपक अलंकार) में स्नान करके आई हो—

"चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा, आलोक-मधुर थी ऐसी।"

यह जो घटना घट गई उसका कारण नायिका का वाह्य रूप मात्र था अथवा प्रेमपात्री का आंतरिक शील-सौजन्य, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा

सकता पर इतना भी निश्चित है कि कवि ने उस मृणमयी को आगे चलकर जो सूक्ष्म मनोलोकों में उठाकर रहस्याविल सूक्ष्म सौंदर्य सत्ता मात्र वना दिया है वह शील 'सौजन्य के आंतरिक सौंदर्य के प्रभाव का ही परिणाम समझा जाएगा। नायिका की श्लक्ष्णता' सौकुमार्य और सूक्ष्मता के अनुपात में ही हमें निश्चयपूर्वक कवि के प्रेम की आध्यात्मिकता का ही दर्शन होता है (आध्यात्मिकता कोई आकाश से उड़कर उतरनेवाला हौआ नहीं, वह तो मानव परिवेश में हमारी आत्मा के योग से ही उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त जो आध्यात्मिकता होगी वह निठल्ले कोरे दार्शनिकों की हवाई आध्यात्मिकता होगी जिसका मानव-जीवन से कोई सम्वन्ध नहीं)। निम्नलिखित उक्तियों से सूचित होता है कि कवि का आरम्भिक स्थूल व भौतिक रूप आंतरिक प्रेम-साधना द्वारा क्रमशः कितना सूक्ष्म, उदात्त, पावन व गंभीर हो गया है—

"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिह्न हैं केवल, मेरे उस महामिलन के।"

× × ×

"तुम सत्य रहे चिर सुन्दर, मेरे इस मिथ्या जग के,
थे केवल जीवन-संगी कल्याण कलित इस मग के।"

× × ×

"गौरव था नीचे आये, प्रियतम मिलने को मेरे,
मैं इठला उठा अकिंचन, देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।"

(सवेरे का सपना सच्चा सिद्ध होता है, यह लोक विश्वास है।)

× × ×

"मधु राका मुसक्याती थी, पहले देखा जब तुम को,
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हम को।"

(शेक्सपियर ने कहा है कि पहले ही दृष्टि-निक्षेप के साथ जो प्रेम होता है वही स्थायी व सच्चा होता है। साथ ही दूसरी पंक्ति में जन्म-जन्म के परिचय से प्रसूत आत्मिक प्रेम की वात द्वारा जन्मान्तर की भावना भी व्यंजित है।)

× × ×

"प्रतिमा में सजीवता सी, वस गई सुछवि आँखों में,
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

"उस कमनीयता कला की सुषमा थी प्यारी-प्यारी।"

× × ×

"चमकूँगा धूल कणों में, सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो ग्रह-पथ में टकराऊँगा।"

× × ×

"छलना थी, तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था,
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था।"

× × ×

"हे जन्म-जन्म के जीवन, साथी संसृति के दुःख में,
पावन प्रभात हो जावे, जागो आलस के सुख में।
जगती का कलुष अपावन, तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता, यह पाप-पुण्य हो जावे।"

× × ×

"जीवन सागर में पावन बड़वानल की ज्वाला-सी,
यह सारा कलुष जलाकर तुम जलो अनल बाला-सी।"

× × ×

"तेरे प्रकाश में चेतन संसार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।"

× × ×

"निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।"

× × ×

"तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो, मेरी चिर-जीवन संगिनि ॥"

रेखांकित स्थलों के आधार पर कवि की प्रेमानुभूति की पावनता, गंभीरता और उदात्तता सहज ही निरूपित की जा सकती है। 'महामिलन' और 'नीचे आये' में प्रेम की आध्यात्मिकता का संकेत मिलता है। 'सत्य', 'चिर सुन्दर', 'कल्याणी', 'मंगलमय', 'पावन', 'पुण्य', 'निर्मलता', 'चेतन प्रकाश'—इस पदावली के द्वारा प्रेम की कोटि और कक्षा स्वतः स्पष्ट है। 'परिचित से जाने कब के'

और 'जन्म-जन्म के जीवन' के द्वारा प्रेम लौकिक जीवन-सीमाओं व भौतिक दीवारों को तोड़-फोड़कर किस प्रकार अनन्त व विराट् से लपककर मिलने का आयोजन कर रहा है—यह सहृदयों को समझाने की आवश्यकता नहीं। 'कमनीयता कला' और 'अलग रही लाखों में' में सौंदर्य की अलौकिक निष्कलुषता व पावनता मुँह से बोल रही है। और 'ग्रह-पथ में टकराऊँगा' में जो प्रेम का वेग-उद्वेल, अखण्ड अमर विश्वास व निष्ठा व्यक्त हुई है, उसकी व्याख्या करना शुभ्रोज्ज्वल ओस-बिन्दु को हाथ में लेकर गिनने का सा निर्मम व्यापार हो जायगा।

इस प्रकार प्रेम का आत्म-द्रव इन पंक्तियों में फूट पड़ा है। यह 'आंसू' का सत्त्व, मधुतत्त्व या नवनीत है। यदि इन पंक्तियों में भी प्रेम की पवित्रता, उच्चता व गंभीरता संदिग्ध हो तो हम इतना ही कह सकेंगे कि मानवीय परिवेश में उच्च प्रेम जैसी कोई वस्तु होती ही नहीं और इसका नाम लेना ही छोड़ देना चाहिए।

कबीर और जायसी के जैसा रहस्यवाद भी हमें यहां नहीं दिखाई पड़ता। हां, नायिका जो सौंदर्य की सूक्ष्य चेतना मात्र रह गई है और उसके कारण जो आत्मोकर्प प्रकट हुआ है, उसकी कोमल-कमनीय अभिव्यक्ति के बांकपन और जटिलता को ही हम रहस्य का नाम देना चाहें तो दे दें, पारिभापिक अर्थ में उसे रहस्यवाद समझना पूरा सत्य नहीं। लौकिक अनुभूति के अलौकिक धरातल पर यह राग-रंजित अनुभूति मात्र है; यह मनोवैज्ञानिक सत्य 'आंसू' की अनुभूति की संतोषजनक व्याख्या करता है। विषय की गंभीरता, अनुभूति की दुर्बोधता तथा अभिव्यक्ति की जरा-सी भी जटिलता को 'रहस्यवाद' कह उठना तो अब पुरानी चाल हो चुकी है।

इस प्रकार आश्रय और आलम्बन का वाह्य और आंतरिक पक्ष कवि ने भाव-व्यंजना और रूप-सौंदर्य-वर्णन के रूप में हमारे सामने पर्याप्त मनोयोग-पूर्वक एवं कलात्मक चारुता के साथ प्रस्तुत किया है। आश्रय की चेष्टाओं (अनुभावों-कायिक व सात्त्विक आदि) के सुन्दर संकेत यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

उद्दीपन के लिए साहित्य में अलंकार शास्त्रानुसार (मन की प्राकृतिक मांग के अनुसार तो है ही।) प्रकृति का प्रयोग विशेपतः स्वीकृत किया गया है। शृंगार रस में चाँदनी, पवन, एकान्त, उद्यान, आश्रय-आलम्बन की पारस्परिक चेष्टाएँ आदि उद्दीपन होते हैं। कवि ने 'आंसू' में प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन, अलंकार-निरूपण व प्रतीक-विधान आदि के लिए ही मुख्यतः किया है। प्रकृति

का स्वतन्त्र आलम्बनगत चित्रण या विशद निरूपण प्रवन्ध काव्यों में ही हो सकता है, छोटी, भावानुभूतिप्रधान गीतात्मक या मुक्तक रचनाओं में नहीं। 'आँसू' में प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ वातें ध्यान देने योग्य हैं। कवि ने इसमें प्रकृति के कोमल और कठोर—दोनों ही रूप लिये हैं ; अतीत के स्मरण के साथ कवि को जीवन के मधुर रूपों का ध्यान आता है किन्तु अव सव सुखद रूप दुःखदायी, दाहक व भयावह हो उठे हैं। वियोगानुभूति में सारी प्रकृति उदास, उजड़ी, सूनी एवं श्री-हीन हो गई है। हृदय की सुख-दुःख की स्थिति के परिवर्तन के साथ प्रकृति में भी परिवर्तन का अनुभव करना (सुख के दिनों में उसे आनन्दोल्लास से परिप्लुत देखना और दुःख में उसे क्लांत व ज्वलनशील अनुभव करना) या उसे मन के सुख-दुःख के रंग में रंगी हुई अनुभूत करना प्रेमी-हृदय की स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। 'आँसू' में प्रकृति मुख्यतः इसी रूप में आई है। कवि ने विपय की कोमलता के अनुरूप प्रकृति के सुन्दर, कोमल, रमणीय व सरस-सलोने पदार्थों (सोनजुही, हिमकण, स्वर्गङ्गा, किंजल्क मधुमालती, शिरीष, कमल, मेघ, विजली, नीलम, मणि, हीरा, विद्रुम, सीपी, पुष्प-कलिका, पल्लव, चन्द्र, पराग, मलयपवन, किरण, चाँदनी, हंस-हंसिनी, कोकिल, शुक, मधुकर आदि) का ही चयन किया है। प्रकृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग अलंकार-निरूपण में उपमानों के रूप में किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, संदेह आदि अलंकारों में प्रकृति का पुष्कल प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रतीक-विधान भी प्रकृति की सहायता से हुआ है। प्रकृति के कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनका साहित्य में शताब्दियों से प्रयोग होता चला आ रहा है। उनके वहु प्रयोग से उन पदार्थों में, हमारे मन में वड़ी गहरी भावनाएँ जाग्रत करने की अपूर्व शक्ति संचित हो जाती है। दीपक, चातक, कमल, मेघ, समुद्र आदि शब्दों का नाम लेते ही क्रमशः शाँत साधना, प्रेम-पथ पर विसर्जन, पवित्रता, दान, गंभीरता आदि की भावनाएँ मन में जग जाती हैं। जब ऐसे उद्देश्य से प्रकृति के पदार्थों का स्मरण किया जाता है तो वे पदार्थ प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए समझे जाते हैं। 'आँसू' में उपा, कमल, विजली, मधुकर, सुमन आदि प्राकृतिक पदार्थ प्रतीक रूप में प्रयुक्त किये गये हैं।

इस प्रकार रस के प्रायः सभी उपकरणों या अवयवों (आश्रय, आलम्वन, उद्दीपन स्थायी-संचारी भाव, अनुभाव आदि) से युक्त यह काव्य प्रत्येक पाठकों

को सभी आवश्यक व्यंजन प्रदान कर उन्हें पौष्टिक तत्त्व प्रदान करने में समर्थ है। यों आश्रय (कवि) के हृदय की भाव-विभूति का प्रकाशन ही कृति का प्रथम दायित्व है।

गीतिकाव्य में कोमल से कोमल भावनाओं के पीछे भी कोई न कोई विचार-तन्तु (चाहे रचना परिनिष्ठ कलाकार द्वारा रचित हो अथवा आदिवासी-वनवासी की निसर्ग-सिद्ध सहज भावोच्छ्‌समयी गीति हो) छिपे रहते हैं। प्रबन्ध काव्य में तो विचारों का एक प्रौढ़, व्यवस्थित व जटिल-विस्तृत स्नायु-जाल रहता है। 'आंसू' में भी 'प्रसाद' के महत्त्वपूर्ण विचार-सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। प्रेम-सौंदर्यप्रधान इस कृति में प्रेम, सौंदर्य, जगत्, जीवन, नियति, सुख-दुःख, आनन्द, माया आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर संकेतात्मक शैली में पर्याप्त कलात्मक निर्देश मिलते हैं। सब विचार-तन्तु एक गंभीर दार्शनिकता के प्रकाश और जीवन-रोमांस की रंगीनी में पवन में झूमते शिरीष-कुसुमों के पराग-तंतुओं की तरह स्पन्दनशील-से प्रतीत होते हैं।

शिल्प, भाव-विन्यास अथवा कला-पक्ष की दृष्टि से भी यह काव्य छायावादी काव्य-शैली की समस्त शक्ति व श्री से सम्पन्न है। 'आंसू' की छायावादी शैली में रीतिकालीन शैली का भी पुट है, इस प्रकार प्राचीन व नवीन का अच्छा मेल हुआ है। काव्य के अनुभूति-पक्ष के अनुरूप ही कला-पक्ष का भी बड़ा सुरुचिपूर्ण व ललित विन्यास हुआ है। भाषा में बहुत लोच, कांति, शक्ति व सौकुमार्य है। स्निग्ध ललित पदशय्या तथा ध्वनिकाव्य की सांकेतिकता में भावों का आंतरिक लावण्य मरोर के साथ तड़प उठा है। छायावादी शैली का एक प्रमुख तत्त्व उसका विरोधाभास का सौंदर्य है जो घनानंद के से विरोध-चमत्कार की याद दिलाता हुआ प्रकट हुआ है। जैसे—

"शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग जल का।
मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें।
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी, शीतल ज्वाला।
मेरी अनामिका संगिनि! सुन्दर कठोर कोमलते।"

लाक्षणिक वैचित्र्य तो पद-पद पर मिलेगा। मानवीकरण की कला छायावाद की विशिष्ट कला है जो लाक्षणिक वैचित्र्य के अन्तर्गत ही अपना कार्य

करती है। 'करुणा' का यह मानवीकरण कैसा चित्र-विधायक है—

"यह हृदय समाधि बना है, रोती करुणा कोने में।"

भावों को प्रभावशालिता के साथ पाठक के हृदय तक प्रेषित करने के लिए अलंकारों का प्रयोग होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास व वक्रोक्ति का प्रयोग भाषा को संगीतात्मक और जीवंत बनाने में बहुत सहायक हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मुद्रा आदि मुख्य हैं। अनेक साँग रूपक बहुत ही सुन्दर हैं। अलंकार-विधान में कवि ने प्रकृति के प्रति सूक्ष्म व गंभीर प्रेम-दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। सूक्ष्म उपमेय के लिए सूक्ष्म और स्थूल उपमेय के लिए स्थूल उपमान भी अनेक स्थानों पर चुने गए हैं जो कवि के कौशल को सूचित करते हैं। अप्रस्तुत-विधान में कवि कल्पना खूब स्वच्छन्दतापूर्वक खेली है। कल्पना प्रायः विस्तृत व रमणीय प्रकृति, जगत् तथा काल्पनिक सौंदर्य-लोक में अबाध चौकड़ी भरती फिरी है। स्वच्छन्द-रमणीय कल्पना के बल पर वस्तु-व्यापारों का नवीन और सुरुचिपूर्ण ढंग से विन्यास हुआ है। पुराने रूढ़ उपमानों की नवीन संयोजना हुई है। इतना होते हुए भी 'आँसू' में अनुभूति पक्ष का ही महत्त्व अधिक है, कल्पना गौण ही समझी जाएगी। 'आँसू' की कल्पना बहुत कोमल, चपल व रंगीन है।

'आँसू' की रचना पर भारतीय वेदान्त सूफ़ी, धर्म भावना, अंग्रेजी, बंगला तथा उर्दू-फारसी काव्य-शैलियों तथा संस्कृत हिन्दी के रीति काव्य की परम्पराओं का भी न्यूनाधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसका भाव-पक्ष सूफ़ियों की मस्ती तथा औपनिषदिक अद्वैतवाद की आनंद-भावना, गीता की समरस जीवन दृष्टि से रंजित, और शैली पक्ष अन्य साहित्यों की अभिव्यंजन-पद्धतियों से प्रभावित है। छाले फूटना, रस पीकर प्याली लुढ़काना, खाली प्याली लेकर मधु की बूँदों की याचना करना आदि बातें सूफ़ी साहित्य की रूढ़ियाँ हैं।

लहर*

"इस एकान्त सृजन में कोई कुछ बाधा मत डालो;
जो कुछ अपने सुन्दर से है, दे देने दो इनको।"

× × ×

*प्रथम संस्करण, सन् १९३५ (संवत् १९९२)। 'लहर' की कविताएँ सन् १९२७ से ही लिखी जाती रही थी।

"मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया।"

× × ×

'लहर' 'प्रसाद' जी की प्रौढ़तम और सुन्दरतम कृतियों में से एक कृति है। उपर्युक्त पंक्तियों में इस रचना की जलवायु व प्रकृति का सहज ही आभास हो जाता है। विदग्ध, सौम्य और गंभीर प्रेमी हृदय के मार्मिक भावोच्छ्वास इस कृति में संचित हो गये हैं। 'झरना' तथा 'लहर' की कविताओं पर एक तुलनात्मक दृष्टिपात करते ही यह पता चल जाएगा कि कवि ने अपने अंतर्प्रदेश की यात्रा में कितनी लू, पाले और आँधियों तथा वर्षा की खड़ी झड़ी में से कितना पथ पार किया है, कितनी रपटीली राह पर चढ़ाई की है और कितने खड़े उतार बीच में आये हैं। कवि के इस मनोविकास का अध्ययन एक बड़ा रोचक अध्ययन है। संग्रह की कुल ३३ कविताओं में से (कुछ गीत भी इनमें सम्मिलित हैं) विषय की दृष्टि से ५-७ तो ऐतिहासिक राष्ट्रीय सांस्कृतिक हैं और शेष सब प्रेम, सौंदर्य, प्रकृति व रहस्य आदि विषयों से सम्बन्धित शुद्ध आत्मपरक। 'अरी करुणा की शान्त कछार' में तथागत (बुद्ध) के तप-त्यागमय जीवन का श्रद्धाभावपूर्ण व उल्लसित स्तवन-वंदन किया गया है। 'जगती की मंगलमयी उषा बन' में भी गौतम और उनकी करुणा की पावनकारी भावना के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। 'अशोक की चिंता' जैसा कि शीर्षक से ही प्रकट है, कलिंग-युद्ध में अशोक के मन में उठी घोर विरक्ति तथा तिक्त तितिक्षा का बड़ा ही आत्मशोधकारी चित्र प्रस्तुत करती है। जीवन की क्षणभंगुरता, विभव-भूति की निस्सारता और जगत् व जीवन की परिवर्तनशीलता की भावना मन की काई को फाड़ती हुई आत्म-निरीक्षण की दार्शनिक भावना उत्तेजित करती है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' नामक कविता में एक सिक्ख लालसिंह के अंग्रेजों की ओर मिलकर देश के प्रति विश्वासघात करने की स्थिति उपस्थित होने पर, अंग्रेजों द्वारा सतलुज पार खदेड़ी राणा रणजीतसिंह की सेना के एक योद्धा शेरसिंह के शस्त्र-समर्पण का करुणा-ग्लानि व ओज-वीरता की मिश्रित भावना से परिपूर्ण क्षोभकारी चित्र अंकित किया गया है। 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में कवि ने बड़े गम्भीर कम्बुकंठ से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वर में सबसे यह प्रश्न पूछा है कि—

बताओ, राणा प्रताप के बाद अरावली की ऊँची चोटी के समान गर्वोन्नत सिर उठाकर ऊँची, छाती करके देश के भार उठाने को क्या कोई भी आज उपस्थित नहीं ! सारी कविता प्राकृतिक पृष्ठभूमि के गंभीर सौंदर्यपूर्ण चित्रण और भावना की ऊर्जस्विता के कारण अत्यन्त ही प्रेरणादायिनी बन पड़ी है। 'प्रलय की छाया', प्रेम-सौंदर्य, यौवन-विलास और प्रकृति के चटकीले और ध्वन्यात्मक चित्रण के कारण एक अत्यन्त ही अपूर्व सौंदर्यशालिनी कृति बन गई है और समीक्षकों की धारणा है कि यह रचना विश्व-साहित्य की एक अनुपम निधि है। कालिदास व रवीन्द्र की लेखनी भी नारी-हृदय के झंझावात, उसकी दुर्बलता और उसकी रूप-यौवन की वासना का ऐसा स्निग्ध, महीन व जालीदार चित्र अंकित नहीं कर सकी ! इस कविता में गुजरात की एक इतिहास-प्रसिद्ध रूपगर्विता कमला का मेवाड़ की प्रातःस्मरणीया रानी पद्मिनी की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी हो, दिल्ली-सम्राट् को अपने रूप की किश्त से व मात देकर, विजय-सन्तोष का आत्मवंचनापूर्ण सुखानुभव करने का बड़ा ही रंजनकारी व मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित किया गया है। सारी कविता यौवनरूप और वासना के कामोष्ण, रंगीन और तिक्त-मादक चित्रों की आर्ट गैलरी है। आदर्शवादी 'प्रसाद' ने दिग्भ्रांत कमला के रूपाभिमान की चिंदी-चिंदी उड़ाकर अन्त में पवित्र प्रेम व आन्तरिक शील-सौंदर्य की वैजयन्ती फहराई है।

इस प्रकार 'लहर' में विविध विषयों की कविताएँ हैं। शृंगार, वीर, करुण व शांत रसों के समावेश से हृदय पर इसकी अपील काफी व्यापक व गहरी होती है।

अब 'प्रसाद' के उसी सनातन विषय—प्रेम, सौंदर्य, प्रकृति व रहस्य से सम्बन्धित कविताओं पर विचार किया जाए, जो कदाचित् पिछली काव्य-कृतियों की तरह ही कृति की इस प्रेरणा का स्रोत है। 'लहर' में कवि का प्रेम पुष्ट, प्राँजल व गंभीर हो गया है। प्रेम कवि की अन्तःसाधना हो चुका है और इसके माध्यम से उसके जीवन के अनेक मानवीय गुणों का विकास हो रहा है। विरह-मिलन की अनुभूतियों के थपेड़ों में पड़कर उसमें एक मानसिक सधाव व संतुलन आ गया है। परिणामस्वरूप उसमें सामञ्जस्य व समरसता की बहु-मूल्य जीवन-दृष्टि तैयार हो गई है व उसके अनुसार संसार के बीच रहने की

अद्भुत क्षमता का विकास हो गया है। अब मन में 'झरना' से आरम्भ होकर 'झरना' व 'लहर' के बीच के युग में चलने वाला 'आँसू' का अन्धड़ बहुत कुछ शाँत हो चुका है—हाँ, पूरी तरह तो हो भी कैसे ! अब व्यथा व वेदना भीतर ही भीतर पच गई है और उसकी कालिमा ओठ पर लालिमा और गले पर नीलिमा बनकर प्रकट हो रही है। इस प्रकार जीवन में शुभ्रता और शिवत्व का उदय हो रहा है। प्रचंड अन्धड़ के बाद यह स्थैर्य-शाँति का वातावरण ऐसा लगता है मानो भूकम्प-बाढ़ से ध्वस्त नगर पर चाँदनी छिटक रही हो ! बाहर से समुद्र शाँत है और मुस्करा रहा है, लहरों की नीरव उथल-पुथल भले ही भीतर-भीतर चल रही हो। वासना शाँत हो चुकी हो, ऐसी बात भी नहीं। उसका बल भीतर अन्य सुन्दर भावनाओं के पोषण संवर्द्धन के लिए स्थानांतरित हो चुका है, या मनोविज्ञान की भाषा में कहें, उसका उन्नयन या उदात्तीकरण हो रहा है। इस प्रयत्न में अब रुदन-क्रंदन भी मंगलमय हो गया है। जीवन में कुछ खोकर कवि ने मानो उससे कोई अधिक सूक्ष्म व बहुमूल्य वस्तु पाकर अपनी क्षति-पूर्ति कर ली है और यही उसका मानसिक बल संबल और विश्राम हो गया है। 'लहर' के आकाश में रुदन के बाद का नव निश्चय, हल्कापन, शाँति और प्रफुल्लता-सी दिखाई पड़ रही है। किसी आन्तरिक आशा की शुभ्र ज्योति से मन एक बार फिर जगर-मगर-सा हो रहा है। वर्षाकाल के बाद शरद् की शुभ्रता, स्वच्छता और पावनता का प्रसार हो चला है। प्रेम व्यक्तिगत घेरे से निकलकर विश्व-मांगल्य व विश्व-कल्याण की ओर प्रवाहित हो गया है। अब तो मन का एक ही विश्राम है—अतीत की सरस-सलोनी स्मृतियाँ। इतने से ही मन शाँत व सन्तुष्ट है। अपने मन की प्रेम-व्यथा को अब वह चीख-चिल्लाकर कहना भी नहीं चाहता। कहता भी है तो अनेक कलात्मक आवरणों के साथ, प्रकृति की भाषा में, ध्वनि की संकेतात्मक शैली में, एक आभिजात्य गरिमा और शालीनता के साथ। हूक उठती भी है तो दूर क्षितिज पर जलभरी बदली में कौंध उठने वाली बिजली की तरह ! वासना का अनियंत्रित असंयत उबाल तो कहीं नहीं, पर हाँ, हवा के झोंके से उड़ी कजलाई राख में से चिनगारी रह-रहकर चमक अवश्य उठती है !

यह है 'लहर' में कवि का प्रणय-भावना सम्बन्धी मनोविधान। यह मुग्ध, सुधीर व परिपक्व प्रेम अनेक उदात्त भावनाओं के बीच प्रस्फुटित हुआ है।

औदार्य, आत्म-तोष, आशा, कामना, समर्पण, क्षोभ, याचना, दान, विषाद, स्मृति, उत्कण्ठा, प्रतीक्षा, अभिलाषा, विश्वास, आश्वासन, उपालम्भ, अनुनय, आत्म-विस्मृति आदि अनेक मानसिक स्थितियों या भावनाओं के बीच प्रेमी हृदय की झाँकियाँ देखने को मिल सकती हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) अपलक जगती हो रात !
वक्षस्थल में जो छिपे हुए—
सोते हों हृदय अभाव लिये—
उनके सपनों का हो न प्रात ! (औदार्य जगन्मांगल्य)

(२) वसुधा नीचे ऊपर नभ हो, नीड़ अलग सबसे हों।
(एकान्त-कामना)

(३) आशा से अंकुर झूलेंगे पल्लव पुलकित होंगे।
× × ×
जवाकुसुम-सी ऊषा खिलेगी मेरी लघु प्राची में। (आशा)

(४) इस एकान्त सृजन में कोई कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं, दे देने दो इनको।
(विनय, समर्पण)

(५) अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आँखों में आकर फिर आँसू बन ढरने वाले को ?
सूने नभ में आग जलाकर, यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर,
जीवन संध्या को नहलाकर, रिक्त जलधि भरनेवाले को।
(क्षोभ, दर्शनोत्कण्ठा)

(६) निधरक तूने ठुकराया तब मेरी टूटी मृदु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते तेरे चरणों की लाली को। × × ×
वही दे रहा था सावन घन—वसुधा की इस हरियाली को।
(उपालम्भ, क्षोभ, याचना, दान)

(७) तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भर कर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?
(विषाद, शून्यता)

(८) आह रे, वह अधीर यौवन !

अधर में वह अधरों की प्यास, नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में आलिंगनमयी—वेदना लिये व्यथाएँ नयी,
टूटते जिससे सब बन्धन, सरस सीकर से जीवन कन,
बिखर भर देते अखिल भुवन, वही पागल अधीर यौवन !
(स्मृति, उन्माद, तृष्णा, विकलता)

(९) ले चल वहां भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे-धीरे ।
(आत्म-विस्मृति, आत्म-वंचना)

(१०) शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा चाहे न मुझे दिखलाना ।
उसकी निर्मल शीतल छाया हिमकन को बिखरा जाना ॥
(आत्म-संतोप, विवशता, अनुनय)

(११) वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ? (स्मृति)

(१२) मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे !
(आह्वान, आत्म-विलय)

(१३) मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—मेरे क्षितिज ! उदार बनो ।
(औदार्य)

मोती-जैसे कवि हृदय की तड़प, कान्ति और सुघराई इन कुछेक उदाहरणों में देखी जा सकती है । प्रेम का जो गुण (Quality) है वह वास्तव में बहुत ऊँचा है । अनुभूति की सचाई, स्वाभाविकता, प्रगाढ़ता और उदात्तता असंदिग्ध है । निश्चय ही 'मानस की गहराई' वाला कवि 'किसी नयन की नील निशा में' विश्राम ले चुका है ।

'झरना' और 'आँसू' में कवि की दृष्टि प्रिय के वाह्य रूपाकार पर भी बहुत टिकती थी किन्तु अब तो प्रेम उस भूमिका को पहुँच चुका है जहाँ त्वचा और रूप-आकार को भेद कर आत्मा आत्मा को ही अधिक देखती है । इसलिए 'लहर' में आलम्बन के वाह्य रूप-वर्णन का प्रयत्न बहुत कम ही दिखाई पड़ता है । इधर-उधर बिखरे संकेतों को समेटकर ही कोई रूप आँखों के आगे खड़ा होता है । रूप कैसा है, इसके लिए आधार हमारे पास कम है । हाँ, उस रूप का प्रभाव कैसा है, यह तो स्पष्ट ही है । इस प्रभाव को प्रेरित करने वाला रूप कैसा रहा होगा, इस प्रश्न को उपजाकर भी पाठक अनुमान के बल पर अपनी

कल्पना की कोई मूर्ति गढ़ सकता है। अस्तु ! नायिका के शारीरिक सौंदर्य व मानसिक शील-सौंदर्य के कुछ विशिष्ट संकेत कवि ने दिए हैं, जैसे—

(१) काली आँखों का अन्धकार……।

(२) शशि-सी वह सुन्दर रूप-विभा……।

(३) जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी ऊषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।

(४) स्निग्ध संकेतों में सुकुमार, बिछल, चल थक जाता तब हार,
छिड़कता अपना गीलापन, उसी रस में तिरता जीवन।

(५) वचित रे ! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम,
किसी नयन की नील निशा में क्या कर चुका क्षणिक विश्राम ?

इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि कवि के प्रेम की अधिष्ठात्री देवी रूप-शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न है और इतना भी निश्चित है कि यह प्रकाण्ड वेदना केवल बाह्य रूपाकर्षण-जन्य ही न होकर किसी सरस-गंभीर आत्मा से ही अपना जीवन-रस खींच रही है। 'झरना' और 'आँसू' की तरह 'लहर' में भी कवि ने अपने आत्मोत्कर्ष में नायिका में, सूक्ष्म कल्पना व मधुमयी भावना के बल पर, रहस्यात्मकता की प्रतिष्ठा कर दी है। '**निज अलकों के अन्धकार में**' कविता लौकिक धरातल की प्रेयसी का अलौकिक धरा-तल पर रहस्यभावनापूर्ण आध्यात्मिक उफान है।

इस प्रेम-सौंदर्य के व्यापक संदर्भ में ही प्रकृति का महत्त्व दिखाई पड़ता है। 'आँसू' और 'लहर' में कवि ने जो कुछ कहा है वह प्रायः प्रकृति की भाषा में कहा है। कवि सीधे-सादे कुछ भी कहना पसन्द नहीं करता। सब मानो उसकी बात भी नहीं समझ पाते। जिसको प्रकृति की भाषा में बोलना-समझना आता है, जो विदग्ध हैं और संकेतों में ही बातों को समझने के अभ्यासी हैं वे ही 'प्रसाद' की इन कविताओं का पूरा मजा ले सकते हैं। प्रतीकों की भाषा तब शुरू होती है जब कवि बहुत कहकर भी अपनी बात नहीं समझा सकता। '**काहे री नलिनी तू कुंभिलानी**' (कबीर) में जो कुछ कहा गया है वह कई पृष्ठों की कागज़-स्याही बचा देता है। हाँ तो 'प्रसाद' भी अपनी प्रेम की गंभीर से गंभीर बात प्रकृति के माध्यम से ही कहते हैं। अभिधा से उनका काम [illegible] चलता। लक्षणा और व्यंजना के द्वारा ही [illegible] बा[illegible] [illegible]ष्ट हो सकती

'लहर' में प्रकृति का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। वह प्रेम भावना को अत्यन्त रमणीय व रसात्मक रूप में तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए नियोजित है। **'हे सागर संगम अरुण नील'**, **'उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर'**, **'मधुर माधवी संध्या में'** आदि कविताएँ अपनी उठान के साथ ही स्वतंत्र प्राकृतिक वर्णन का आश्वासन देती हैं किन्तु तुरन्त ही वे प्रेम-भावना को अपना पूर्ण समर्पण कर देती हैं। शायद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'प्रसाद' प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार भी नहीं करते। उनकी मान्यता है कि मानव अपने सुख-दुःख के रंग में ही प्रकृति को रंगी हुई देखने के लिए बाध्य है। आचार्य शुक्ल ने जिस उत्साह से प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण के वर्णन की बात कही है, 'प्रसाद' कदाचित् उसका समर्थन नहीं करते। पर यह चर्चा विषयान्तर हो रही है। अस्तु!

'लहर' में 'प्रसाद' एक जीवन-कला के आचार्य और विचारक के रूप में भी आते हैं। पर, यह कार्य उन्होंने एक कलाकार व कवि की मर्यादाओं में रह कर ही सम्पन्न किया है। प्रेम, रूप, सौंदर्य, जीवन आदि विषयों पर कवि ने पर्याप्त स्पष्टता से अपना मत दिया है। यथा—

"छोड़कर जीवन के अतिवाद, मध्य पथ ऐ लो सुगति सुधार।"

भगवान् बुद्ध के इस विचार का मानो कवि भी समर्थन करता है।

प्यार की चाह में जीवन विकल होकर हरिण की तरह जीवन-मरु में ...ाकड़ी भरता मिलता है! कवि मानो अपने सुदीर्घकालीन प्रेमानुभव के बल पर प्रामाणिक बात कहता है—

"पागल रे! वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब,
आंसू के कन-कन से गिनकर, यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?—मुझको न मिला रे कभी प्यार।"

(यहाँ सहज की 'कामायनी' में आई यह कल्पना स्मरण हो आ रही है— 'देना हो जितना दे दे तू; लेना, कोई यह न करे।' क्योंकि 'संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उडुगण बिखरे।')

ऐतिहासिक कविताओं में भी कवि ने अपनी विचारधारा ध्वनित की है। आत्म-गौरव व स्वाधीनता के लिए प्राणों की बाजी लगा देना ही वास्तविक जीवन है, यही मानो कवि की शिक्षा है। आत्मिक तेज, गौरव और शील-

चारित्र्य की तुलना में नर्ग का रूप कितना क्षुद्र है, इसको कवि ने कैसी सुन्दर नाटकीय परिस्थिति बनाकर कमला के चरित्र के माध्यम से प्रकट किया है ! वह कमला जो अपने यौवनोदय के सौंदर्य का यों कहकर स्मरण कर रही है (भाषा-संगीत, और अभिव्यक्ति का ध्वन्यात्मक सौंदर्य तो देखिए !)—

"मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।"

उसे अन्त में रूप की निस्सारता का पूरा अनुभव हो गया—

"कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभियान में
एक धूम्र-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग-मन्दिर के व्योम में
क्षीण गन्ध निरवलम्ब।"

(अगरबत्ती केवल इस मिथ्या अभिमान में ही जलकर राख हो गई कि वह स्वर्ण-पात्र में जल रही है। अन्त में वह एक असहाय करुण धूम्र-रेखा मात्र रहकर लुप्त हो गई !)

कवि ने कलाकार के ही ढंग से इस महान् सत्य को हमें समझाया है। रूप पर आत्मिक सौंदर्य की विजय दिखाने में यहाँ 'प्रसाद' कालिदास (मेघदूत, शाकुन्तल व कुमारसंभव आदि कृतियों में) के समकक्ष हैं।

जीवन कितना मधुर व स्पृहणीय है, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए इससे बढ़कर सुन्दर उक्ति और कहाँ मिलेगी—

"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है ?
विश्व भर से मैं जिसे छाती में छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही :—
अपना दल-अँचल पसार कर बन-राजी,
मांगती है जीवन का बिन्दु-बिन्दु ओस-सा।

क्रन्दन करता सा जलनिधि भी
मांगता है नित्य मानो जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।
व्याकुल हो विश्व, अन्धतम से।
भोर में ही माँगता है
"जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा भरी।
जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है।"

किन्तु जीवन कला के आचार्य 'प्रसाद' साथ ही अपने सारे साहित्य में यह भी शिक्षा दे रहे हैं कि गौरव और स्वाभिमान को खोकर ऐसा प्यारा जीवन भी त्याग देना चाहिए।

'लहर' की काव्य-शैली छायावादी काव्य-शैली का प्रौढ़ और परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत करती है। इस कृति की भाषा रसानुकूल, प्रवाहमयी, प्रौढ़ और परिष्कृत है। 'प्रसाद' की भाषा छिपाये नहीं छिपती। उसमें शब्द-चयन बहुत सुरुचिपूर्ण और अनुप्रास-योजना बहुत श्रुति-सुखद होती है। विरोध-चमत्कार का सौंदर्य भी दर्शनीय होता है, जैसे—

"किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।"

'झरना' की तरह 'लहर' में भी कवि में नव-नव छंद के प्रयोग का उत्साह है। 'झरना' में संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी प्रयोग था किन्तु 'लहर' में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, मुक्त छंदों अथवा अतुकांत छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें पंक्तियाँ, भाव-वेग के अनुसार ही छोटी-बड़ी होती हैं और अन्त्यानुप्रास भी नहीं रहते। लय और प्रवाह के द्वारा अन्त्यानुप्रास के अभाव की पूर्ति हो जाती है। ऐसा अवश्य लगता है कि मुक्त छन्दों में भावना पर अनावश्यक नियंत्रण नहीं रहते। पर इससे छंदोबद्ध कविता की युगयुगान्त श्रेष्ठता को किसी प्रकार आँच नहीं आती। जो हो, 'लहर' में विविध छंदों का प्रयोग निश्चय ही प्रशंसनीय है। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' भिन्न-तुकान्त मुक्त छंद की कविताओं के सुन्दर उदाहरण हैं।

लाक्षणिकता छायावादी कविता की मुख्य विशेषता है। शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों में कल्पना का सौंदर्य निहित रहता है। लाक्षणिक प्रयोगों के ये उदाहरण देखिये:—

(१) मधु-मंगल की वर्षा होती, कांटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती—आशा, समझ मिला अपना धन।
(२) जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी सन्ध्या-संगीत को।

काँटों का मोती पहनना, आशा का रोते हुए उन्हें बटोरना तथा अरुणिमा का सन्ध्या-संगीत पीना— आदि प्रयोग लाक्षणिक हैं जिनमें कल्पना का विनियोग निहित है। सुन्दर कल्पना के बल पर ही लाक्षणिक मूर्त्त विधान संभव हो पाते हैं। इसी प्रकार, 'करुणा की नव अँगराई-सी, मलयानिल परछाईं-सी, इन सुन्दर उपमाओं में भी लाक्षणिक सौंदर्य व रमणीय कल्पना के दर्शन होते है। 'करुणा की अँगराई में' और 'मलयानिल की परछाईं' में कल्पना की कितनी बारीकी है। जीवन की आनन्द-लहर के लिए ऐसे सूक्ष्म उपमानों का विधान वास्तव में भावुकता व कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा है।

सूफ़ी प्रभाव 'लहर' में भी अन्य कृतियों की तरह यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है—

"ढलें और विस्मृति के प्याले।"

× × ×

"अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।"

× × ×

अरे भिखारी ! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

कहीं-कहीं अभिव्यक्ति में रूखी गद्यात्मकता भी दिखाई पड़ती है। नियति के सम्बन्ध में भी 'प्रसाद' अपने जीवनानुभव से प्रेरित होकर कहीं न कहीं कुछ कह ही देते हैं। काव्य-शैली पर 'झरना' व 'आंसू' की तरह ही अन्य अनेक साहित्यों की काव्य-शैलियों का प्रभाव है। 'बीती विभावरी जागरी !' नामक सुन्दर गीत की कल्पना माघ (शिशुपाल-वध) से प्रेरित हुई है।

इस प्रकार 'लहर' अनेक विशेषताओं से युक्त 'प्रसाद' जी की एक अत्यन्त अनूठी व सरस कृति है।

नाटकों में संग्रहीत गीत व कविताएँ

'प्रसाद' की कविता का अध्ययन करते समय हम उनके द्वारा रचित गीत-कविताओं की उस प्रचुर परिमाण वाली रसमयी निधि का भी विस्मरण या

उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते जो उनके नाटकों (सज्जन, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी) में उपलब्ध है और इधर-उधर बिखरी पड़ी है। कविता के विवेचन के प्रसंग में सृष्टि पर विचार करना भी प्रस्तुत अथवा निर्धारित विषय की सीमा के अन्तर्गत ही होगा; इतना ही नहीं, इसके बिना यह अध्ययन अधूरा ही समझा जाएगा।

लगभग १०० गीत-कविताएँ 'प्रसाद' के नाटकों में संकलित हैं। नाटकों से ही मुख्यतः सम्बन्धित होने के नाते एक ओर तो उनकी प्रसंगप्राप्तता और रंगमंचोपयोगिता पर थोड़ा विचार करना न्यायोचित है और दूसरी ओर उनमें काव्य-तत्त्वों के भरपूर समावेश व उनके कलापूर्ण विन्यास के महत्त्व के कारण उनका शुद्ध काव्य की दृष्टि से महत्त्व-प्रतिपादन व मूल्यांकन भी आवश्यक है। किन्तु इसके पूर्व सरसरी दृष्टि से 'गीत' के स्वरूप (Form) और नाटकों में गीतों के प्रयोग की उपयुक्तता व सार्थकता पर भी विचार करना उपयुक्त होगा।

गीत की प्रेरणा माँगे-ताँगे और उधार नहीं आती। वह शत-प्रतिशत अपनी कुछ निजी और मौलिक होती है। कविता तो विषय-प्रधान होती है। उसकी बहुत-सी सामग्री तो बाहर से ही मानव और प्रकृति के रूप-आकारों से, टीप ली जाती है। बुद्धि-बल, शास्त्राभ्यास, अर्जित काव्य-कौशल और औसत दर्जे की कल्पना-भावुकता से ही कुछ काट-छाँट और तराश-बिनार से खासी अच्छी रचना तैयार हो सकती है। हाँ, सर्वोच्च कोटि की विषय-प्रधान कविता (objective poetry) में भी—जैसे रामचरितमानस, पद्मावत, कामायनी, पराडाइज लॉस्ट आदि में—महान् प्रतिभा, गंभीर व प्रौढ़ जीवन-दर्शन तथा निरीक्षण और कवि-कर्म का कौशल निहित रहता है। किन्तु गीत में ? वहाँ तो एकदम भीतरी और अपना ही प्राण-रस चाहिए (प्रकारांतर से यह विषय-प्रधान कविता में भी विभिन्न अनुपातों में रहता ही है) जो जीवन में यदि कहीं उँगली किवाड़ में आ गई हो, घुटने तुड़वाये हों और आँधी-पाले में ऊँची चढ़ाई की हो तो मन में, फूल के मकरन्द की तरह, बिना माँगे उपजता रहता है। पर यह अनुभूति केवल शुद्ध स्वार्थ की ही हो तो कभी काम नहीं चलने का ! जब तक हमारी अनुभूति गीत में आकर विश्व की अनुभूति न हो जाए तब तक उस गीत का गीतपन मानो प्रामाणिक नहीं। अतः अनुभूति की सचाई, स्वाभाविकता,

व गहनता आवश्यक है। हमारी आत्मा पवित्रता, उज्ज्वलता, उदारता, स्वतंत्रता आदि गुणों का पुंज है। वह उसी अनुभूति को स्वीकार करेगी जो कवि की कड़ी साधना से उद्भूत हुई हो। ऐसी भावना जब गीतों का कोमल रूप ग्रहण करती है तभी विश्व-हृदय तक उसकी पहुँच हो सकने का भरोसा होने लगता है। प्रथमतः गीत इस विचार से गाया या लिखा नहीं जाता कि इसे कौन, कब और कहां पढ़ेगा। संसार के प्राचीन भक्तों व कवियों के उद्गार इस बात के साक्षी हैं। शायद यह सच है कि उन्होंने ऐसी कामना न की इसीलिए प्रकृति ने उनको अमर ख्याति का पुरस्कार प्रदान किया। तो यों कहा जाय तो ठीक कि जितना ही आत्मा में डूबकर भाव-विस्फोट होगा उसी अनुपात में कवि का वह गीत मानव-समाज व कला दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा। यह सगुण संसार व्यवहार का है। उदात्त भावनाएँ जब प्रकट होती हैं और उनका प्रचार-प्रसार होता है तो सभी उनसे लाभान्वित होते हैं। संगीत और अभिनय के वातावरण में रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया गीत इस दृष्टि से अत्यधिक शक्तिशाली होता है। पर, शुद्ध कलात्मक गीत और रंगमंच के लिए अभिप्रेत गीत में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है।

रंगमंचोपयोगी गीतों में प्रेक्षकों अथवा दर्शकों का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है। उनकी भाषा सरल, प्रवाहमयी व सहज संगीतात्मक हो तो वे जनता के कंठहार हो जायेंगे। लोक-रुचि एक विचित्र चीज़ है। प्रायः हल्के व भद्दी रुचि के अश्लील गीत ही साधारण जनता में अधिक लोकप्रिय होते हैं किन्तु उस लोकप्रियता को कसौटी मानकर हम 'प्रसाद' के गीतों की बात नहीं कर रहे हैं। औसत दर्जे की शालीन लोकरुचि ही मानदंड है। हाँ, तो यह कठोर सत्य सामने आता है कि कुछ गीतों को छोड़कर 'प्रसाद' के गीत रंगमंचोपयोगी बिल्कुल नहीं हैं। इन गीतों का शुद्ध साहित्यिक मूल्य बहुत उच्च है, इसमें भी सन्देह नहीं। पर रंगमंच के लिए 'प्रसाद' ने जो ये गीत लिखे किन्तु रंग-मंचोपयोगी न हो सके, इसमें 'प्रसाद' जी की कोई त्रुटि नहीं। गीत की आत्मा भावसत्यता (sincerity) होती है और वह इनमें शत-प्रतिशत (एक-दो प्रति-शत कम भी की जा सकती है।) विद्यमान है। 'प्रसाद' सदा एक बहुत ऊंचे सांस्कृतिक धरातल से और गंभीर स्वर में बोलने के आरम्भ से ही अभ्यासी हैं। ऐसी स्थिति में यदि उनके गीतों की भाषा बहुत पुष्ट-प्रौढ़ और उनका

रचना-विधान बहुत कलात्मक हो तो इसमें उनका क्या दोष ! शायद 'प्रसाद' आगामी कल के लिए लिख रहे थे; जानते होंगे कि बहुत शीघ्र जनता का भाषा-स्तर उच्च होगा और इस प्रकार की भाषा-शैली सामान्य समझ व ग्रहण की वस्तु हो जायगी। फिर, पारसी स्टेज के प्रभाव से विकृत लोकरुचि को सुधारना व उसे शालीन-सुसंस्कृत बनाना भी तो आदर्शवादी 'प्रसाद' का साहित्यिक दायित्व था। जो हो, फिर भी इतना तो अवश्य कहना पड़ेगा कि इस सम्बन्ध में थोड़ी सी व्यावहारिकता से काम लिया जाता तो ये गीत वर्त्तमान प्रभाव से कई गुना प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते—यद्यपि अपने वर्त्तमान रूप में भी शुद्ध साहित्य की दृष्टि से ये अनमोल हैं।

मंच की दृष्टि से 'राज्यश्री' के 'आशा विकल हुई है मेरी', 'सँभाले कोई कैसे प्यार' और 'करुणा कादम्बिनी बरसे'; 'विशाख' के 'सखी री, सुख किस को हैं कहते' और 'हिये में चुभ गई हाँ'; 'अजातशत्रु' के 'अली ने क्यों भला अवहेला की', 'प्यारे निर्मोही हो कर','आओ हिय में अहो प्राण प्यारे' और 'चला है मंथर गति से पवन'; 'कामना' के 'पीले प्रेम का प्याला', 'छटा कैसी सलोनी निराली है', और 'छिपाओगे कैसे'; 'जनमेजय का नागयज्ञ' का 'मन, जागो जागो'; 'स्कन्दगुप्त' के 'भरा नैनों में मन में रूप', 'घने प्रेम-तरु तले' और 'आह वेदना मिली विदाई'; 'चन्द्रगुप्त' के 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', 'आज इस यौवन के मालती मुकुल···', 'सुधा सीकर से नहला दो', 'मधुप कब एक कली का है', और 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' के 'यह कसक अरे आँसू सहजा' और 'यौवन ! तेरी चंचल छाया' आदि गीत पर्याप्त सुन्दर हैं—यद्यपि इनमें से कुछ गीत सामान्य समझ से बाहर की चीज़ है पर संगीत के नाद-सौंदर्य के मेल से पूर्ण आकर्षक बन सकने में समर्थ हैं। इनमें से कई गीतों की काफ़ी कलात्मक पच्चीकारी भी है पर फिर भी ये रंगमंचोपयोगी समझे जा सकते हैं। शेष गीत और कविताएँ शुद्ध साहित्यिक महत्त्व की ही ठहरती हैं। सोचिए तो कि स्मृति, चिह्न, क्षेत्र, आनन्द भैरवी, निशा माधवी, शारदी कैरवी, पद्य, उच्छृंखलता, परिरम्भ मुकुल, विनम्र, क्षितिज तट, मधु जलनिधि, वाड़व, लेलिहान, जिह्वा, राक्षसत्व, क्षितिज, नील नीरद, क्षुद्र, स्वातन्त्र्य मन्त्र, कल्पद्रुम, वरुणालय, तरुणाब्ज, निस्तब्ध, कल्पना, आसक्ति, तृण से सदृश, नर्यस्थित, विनम्र, अस्तित्व, छिद्र, ध्वनि, तृष्णापाश, द्रुमदल, कणिका,

विपंची, पुंज, ह्रेपा, याज्ञिक, अरिगण, स्फुट, तृप्टि, आपानक, तारामद्यपमंडली, बिथुरी, द्वन्द्व, सात्त्विक स्वेद-बिन्दु, स्मित, अम्लान रागरक्त क्षत—आदि शब्द या पदावली रंगमंच के गीत-काव्य के लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं। कोई बात भी हो भला ! वास्तव में ये शब्द शर्बत में कंकड़ या मिसरी में बाँस की फाँस से ही हैं। अनेक गीत भावना की सरसता-कोमलता, वृत्ति की तन्मयता, छन्द-शैली, लय-प्रवाह, चरणों की लघुता, आनुप्रासिक नादानुरंजकता आदि की दृप्टि से बहुत ही सुन्दर हैं पर उनमें भी कही न कहीं, कुछ न कुछ आ ही जाता है। कहीं-कहीं गीत अत्यन्त मधुर और स्वाभाविक गीति प्रेरणा से उच्छ्वसित हुआ है किन्तु उसका विन्यास अधिक साहित्यिक और पांडित्यपूर्ण हो गया है।

शुद्ध साहित्यिक मूल्य की दृप्टि से 'अगरु धूम की श्याम लहरियाँ' (स्कन्दगुप्त) "हिमालय के आँगन में' (स्कन्दगुप्त), 'बहुत छिपाया उफन पड़ा अब' (अजातशत्रु), 'अलका की किस विकल विरहिणी' (अजातशत्रु), 'पैरों के नीचे जलधर हो' (ध्रुवस्वामिनी), 'अस्ताचल पर युवती संध्या की' (ध्रुवस्वामिनी), 'तुम कनक किरण के अन्तराल से लुक-छिप कर आते हो क्यों' (चन्द्रगुप्त), 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' (चन्द्रगुप्त), 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' (चन्द्रगुप्त), 'सखे! वह प्रेममयी रजनी' (चन्द्रगुप्त) आदि गीत अत्यन्त ही प्रौढ़ व कलापूर्ण हैं--इनमें से अधिकाँश को गीत क्या कहें, वे तो ठोस कविताएँ हैं १६, १८, २० पंक्तियोंवाली। उनमें न गीत की टेक ही है और न गीत का उनका स्वरूप। इन गीतों अथवा कविताओं में भाषा-परिष्कार, भावना की सरसता-सजीवता, रमणीय मूर्ति-विधायिनी कल्पना, चारु अलंकरण आदि पद-पद पर देखे जा सकते हैं। विषय प्राय: शृंगार, करुण, वीर व शांत रस से सम्बन्धित हैं। कहीं-कहीं हल्के मनोरंजन के उद्देश्य से हास्य-रस की भी फुहारें हैं। रूप-सौंदर्य, प्रकृति-यौवन आदि से सम्बन्धित कविताएँ दार्शनिकता-आध्यात्मिकता के धरातलों तक भी पहुँच गई हैं। कोई-कोई गीत घनी रहस्य भावना से आविल हो गया है। प्रेम-सौदर्य का चित्रण कहीं-कहीं बहुत महीन व झीना हो गया है; जैसे 'चन्द्रगुप्त' के 'सखे ! वह प्रेममयी रजनी।' नामक गीत में—

> "सखे वह प्रेममयी रजनी।
> आँखों में स्वप्न बनी, सखे ! वह प्रेममयी रजनी।

कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे,
ठिठका-सा चन्द्र खड़ा ।
माधव सुमनों में गूँथ रहा,
तारों की किरन-अनी । सखे...
नयनों में मदिर विलास लिये,
उज्ज्वल आलोक खिला ।
हँसती-सी सुरभि सुधार रही,
अलकों की मृदुल अनी ।"

वसंत का तारों की किरन-अनी गूंथना और सुरभि के द्वारा मुस्कराते हुए अलकों की मृदुल अनी का सुधारा जाना—रेखांकित स्थलों में कल्पना की यह कोमलता और मनोरम मानवीकरण का सौंदर्य भली भाँति देखा जा सकता है। इसी प्रकार शृंगार की यह सूक्ष्म-सुकोमल कल्पना देखिये—

"अगरु धूम की श्याम लहरियां उलझी हों उन अलकों से,
व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से ।
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र हृदय-घनमाला से,
आँसू वरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से ।" (स्कन्दगुप्त)

इनकी तुलना में मंचोपयोगी इस गीत की सरलता-सादगी देखिये—

आशा विकल हुई है मेरी,
प्यास बुझी न कभी मन की रे !
दूर हट रहा सरवर शीतल,
हुआ चाहता अब तो ओझल,
झुक जाती हैं पलकें दुर्बल,
ध्वनि सुन न पड़ी नव घन की रे !
ओ बेपीर पीर ! हूँ हारी,
जाने दे, हूँ मैं अधमारी,
सिसक रही घायल दुखिया री—
गांठ भूल जीवन-धन की रे !
आशा विकल हुई है मेरी—" (राज्यश्री)

रेखांकित पंक्ति गीत के प्रवाह में बाधा डाल रही है।

वीररसपूर्ण, रौद्रभावयुक्त, व ओजस्विनी भावना वाले गीत बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। उनका भाव-औदात्य तथा भाषा की परुपता रंगमंच पर वातावरण-निर्माण में भी सहायक होती है और साधारण काव्य-पाठ में भी मन को उमंग-स्फूर्ति प्रदान करती है। जहाँ देश के रूप-सौंदर्य, सांस्कृतिक गौरव और जीवन के शुभ्र-सात्विक ओज का चित्रण हुआ है वहाँ हृदय उदात्त भावनाओं की लाली से भरकर असाढ़ की सांझ-सा फूल उठता है। उद्‌बोधन के गीतों में भी बड़ा जादू है। शान्त रस से सम्बन्धित गीत कविताएँ मानव-कल्याण, विश्व-मैत्री तथा विनय-समर्पणमयी आस्तिकता की भावनाओं से परिप्लुत हैं। जीवन की नश्वरता, क्षणभंगुरता तथा अनित्यता की भावनाओं वाले दार्शनिक गीत अथवा कविताएँ भी मन को शुभ्र, उदार और सरल बनाने में सहायक होती हैं।

उपमा-रूपक की महीन गुँथाई तो प्रायः सर्वत्र ही मिल जायगी। प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग भी उद्दीपन, अलंकार-विधान तथा रहस्य-भावना के प्रकाशनार्थ प्रायः सर्वत्र ही मिलेगा। कहीं-कहीं काव्यत्व साधारण भी दिखाई पड़ता है। अभिव्यक्ति में गद्यात्मकता भी प्रकट होती है। कविता का प्रयोग 'प्रसाद' जी की आरम्भिक रचनाओं में पात्रों के सम्वादों या प्रश्नोत्तरों के बीच भी मिलता है जो एक भद्दी सी चाल है। तुकबाजी के लिए भी कविता की पंक्तियाँ कहीं-कहीं बोल दी जाती हैं। सवैया, कवित्त और दोहा आदि का प्रयोग भी सम्वादों अथवा गीतों के रूप में मिलता है। 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' नामक 'प्रसाद' जी की प्राचीनतम नाट्य-कृतियों में रोला, उल्लाला व छप्पय आदि का भी प्रयोग हुआ है। ऐसे छन्द ब्रजभाषा में ही लिखे हुए मिलते हैं।

कामायनी

सामान्य परिचय—कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है। इस महाकाव्य की सृष्टि करके कवि प्रसाद ने साहित्य-जगत् में अमर पद प्राप्त किया है। प्राचीन कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं से महाकवि ने मानव के विकास की चिरन्तन गाथा ही इसके द्वारा प्रस्तुत की है। मानव-मन की वृत्तियों के क्रमिक विकास की मनोवैज्ञानिक एवं तात्त्विक व्याख्या के साथ कवि ने मनु, श्रद्धा और इड़ा की वैदिक एवं पौराणिक कथा को जिस शैली से

सम्बद्ध किया है वह आख्यान की गरिमा और रोचकता दोनों दृष्टियों से आकर्षक बन पड़ी है। इस काव्य के सम्बन्ध में आलोचकों का प्रारम्भ से मतभेद रहा है, कुछ विद्वान् इसे दर्शन—मनोविज्ञान—का काव्य-ग्रन्थ कह कर इसके काव्यत्व को गौण स्थान देते हैं और कुछ विद्वानों के मत में यह मानव के स्वरूप चिन्तन का गम्भीर प्रयास है। तीसरे आलोचक वे भी हैं जो इसे रामचरितमानस का अभिनव संस्करण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। आलोचकों के मतैक्य न होने का कारण स्पष्ट है। कामायनी जिस कथानक पर आधृत है और जिन पात्रों का चरित्र इसमें उद्घटित हुआ है वह असाधारण या विलक्षण कोटि का है, फलतः मतभेद के लिए अवकाश निकल आना स्वाभाविक है। मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रच्छन्न प्रयत्न इस महा-काव्य की आत्मा में रहा है और स्वयं स्रष्टा भी उसका सर्वथा निराकरण नहीं कर सका है अतः साधारण पाठक के लिए कामायनी का वास्तविक रूप समझना सरल नहीं है।

कामायनी में कथानक का व्यापक विस्तार नहीं है। तीन-चार घटनाओं के भीतर ही काव्य की कथावस्तु पल्लवित होकर समाप्त हो गई है। पात्रों की भी भीड़ नहीं है। कथा और पात्र पौराणिक हैं किन्तु उनका ग्रहण औपचारिक रूप पर ही कवि ने किया है; कवि का प्रमुख लक्ष्य मानवता के विकास की कथा और शाश्वत संदेश प्रस्तुत करने की दिशा में रहा है। युगधर्म की ओर दृष्टि बनाए हुए कवि ने शाश्वत धर्म की रक्षा इस काव्य में की है। किसी एक युग विशेष के मानव के संघर्ष, द्वन्द्व और बाह्याभ्यन्तर आन्दोलनों को व्यक्त न करके कवि ने युग-युग के पुरुषों के पुरुषार्थों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है।

मानव के बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष को चित्रित करने के लिए कवि ने श्रद्धा और इड़ा नामक पात्रों की अवतारणा की है। महाकाव्य के साथ दर्शन का सम्बन्ध तो रामचरितमानस में भी है। तुलसीदास जी ने दार्शनिक मतवादों का यथामति समावेश करके मानस के धरातल को साधारण कथा प्रधान महाकाव्य से उच्च स्तर का बना दिया है किन्तु काव्य के भीतर आद्योपान्त मनोविज्ञान और दर्शन का समाहार कामायनी में ही दृष्टिगत होता है।

प्रसाद जी के समक्ष कामायनी लिखते समय किस-किस भावधारा का

विचारधारा का प्राधान्य रहा यह निर्णय करना तो कठिन है किन्तु कामायनी के अनुशीलन से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद जी किसी साधारण मनोरंजन कथा को काव्य का रूप देने नहीं बैठे थे। कामायनी लिखते समय उनका ध्येय बहुत गंभीर था। वे अपनी दार्शनिक विचारधारा को कामायनी के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे। शैवागमों का व्यापक प्रभाव कामायनी में प्रारम्भ से ही देखा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार शिव की चिति शक्ति का सांगोपांग वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी में किया है। इसके अतिरिक्त वेदान्त आदि अन्य भारतीय दर्शनों का भी इस काव्य में यथास्थान निर्देश हुआ है। दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को कवि ने इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समाहार में बड़े कौशल के साथ अंकित किया है। जीवन की पूर्णता के लिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामंजस्य का वर्णन कामायनी के अन्तिम सर्गों में कवि ने दिखाया है।

कवि ने काव्य का प्रारम्भ मनु अर्थात् मानव की चिन्ता से किया है। चिन्ता-रत मानव अपने अतीत पर विषण्ण होकर ऐसी स्थिति में हिमालय के उत्तुंग शिखर पर बैठा हुआ दिखाया गया है कि उसे अतीत के साथ अनागत भी भयावह प्रतीत होता है। इस चिन्ता में मनु को कुछ करने की आभ्यन्तर प्रेरणा होती है। यह प्रेरणा या प्रवृत्ति ही मनु को प्रबुद्ध करती है और उसके भीतर आशा का संचार होता है। आशा उत्पन्न होने पर उसमें श्रद्धा का उदय होता है। श्रद्धा भाव और व्यक्ति दोनों का प्रतिनिधित्व करनेवाला सर्ग है। श्रद्धा नारी के रूप में मनु का अभाव दूर करती है और भाव के रूप में मनु को जगत् के प्रति आस्थावान् बनाती है। मनु और श्रद्धा के मिलन से काम की सृष्टि होना स्वाभाविक है। काम को 'प्रसाद' जी ने उदात्त और अवदात रूप में ग्रहण करके उसका वर्णन बड़े व्यापक रूप से किया है। जीवन को गतिशील बनाने में काम की प्रयोजनीयता कामायनी में द्रष्टव्य है। काम का स्वरूप प्रसाद जी ने इतना निखार दिया है कि विषय-भोग की कलुषित वृत्ति तक ही वह सीमित नहीं रहता, वरन् प्रवृत्ति-विधान का प्रयोजन काम से ही सिद्ध होता है। व्यापक अर्थ में जो कामना है वही काम है। काम के उपरांत वासना सर्ग है। वासना भोग-वृत्ति का रूप है। वासना के उत्पन्न होने पर मनु (मानव) ऐहिक विषय-भोग की ओर अग्रसर होते हैं। विषय में अभिनिवेश करानेवाली वृत्ति

होने के कारण वासना की उपादेयता भी अनिवार्य है। श्रद्धा के रूप, गुण और शील पर मुग्ध मनु अपनी स्नेहसिक्त वृत्ति को प्रसारित होने के लिए अवसर की बाट जोह रहे थे। काम के उत्पन्न होने पर वासना का होना उचित ही है। वासना के उपरान्त कवि ने लज्जा सर्ग को स्थान दिया है। भावावेश में उन्मन सदृश मनु श्रद्धा का हाथ पकड़ लेते हैं और कामातुर व्यक्ति के समान उसकी रूप माधुरी का गुणगान करने में लीन हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में नारी (श्रद्धा) के मन में लज्जा होना निसर्ग-सिद्ध है। लज्जावनत श्रद्धा उस समय सोचने लगती है कि क्या मेरा आज का आत्म-समर्पण ही मेरे चिर-बन्धन का कारण होगा। लज्जा का उदय होना नारी-धर्म है। कवि ने इस भाव का वर्णन काव्य-शिल्प और सौष्ठव की दृष्टि से चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से लज्जा सर्ग कामायनी के सर्वश्रेष्ठ सर्गों में से एक है। लज्जा के बाद कर्म सर्ग का प्रारम्भ बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। जीवन में नाना प्रकार की लालसाओं का जन्म हो जाने के बाद कर्म में प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। यज्ञ की पुकार, सोमपान की अभिलाषा और संसार को बढ़ाने की इच्छा सब मन में उद्वेलित होने लगी। जल-प्लावन से बचे हुए किलातआकुली नामक असुर पुरोहितों द्वारा यज्ञ-रचना हुई। यज्ञ रूप कर्म ही मनु का व्यापार है। सोमपान की क्रिया का वर्णन भी यज्ञ धर्म के साथ कवि ने दिखाया है। कर्म सर्ग में ही मनु और श्रद्धा के विविध व्यापारों का सांकेतिक वर्णन मिलता है। मनु ने यज्ञ में पशु-बलि करके हिंसा का पाठ पढ़ लिया था। मृगया के लिए निकलना और इधर-उधर हिंसारत रहने में मनु को आनन्द मिलने लगा। इधर श्रद्धा ने अपना घर-गृहस्थ सम्हालना शुरू किया। शालियां एकत्र करना, तकली चलाना और विविध वस्तुओं के संग्रह में ही उसका समय व्यतीत होने लगा।

मनु का मन अब विषयासक्त होने के साथ श्रद्धा के प्रति पूर्णाधिकार की भावना से भरा हुआ था। मनु के लिए यह असह्य था कि श्रद्धा संसार में किसी और से एक क्षण के लिए भी प्रेम करे। मनु को ईर्ष्या भाव ने घेर लिया। कवि ने इसी मनोवैज्ञानिक अवसर पर ईर्ष्या सर्ग का प्रारम्भ किया है। मनु चाहते हैं श्रद्धा को केवल उन्हीं की चिन्ता हो, किसी और की नहीं। यह स्वार्थ-बुद्धि मनु को ईर्ष्यालु बना देती है। श्रद्धा मनु को समझाती है किन्तु

कोई असर नहीं होता। मनु ईर्ष्या से भरे मन को लेकर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं।

मनु का श्रद्धा को छोड़कर चला जाना कामायनी काव्य की विशेष घटना है। प्रसाद जी ने लम्बे-लम्बे गीतों में मनु की मनोदशा का चित्रण 'इड़ा' सर्ग में किया है। मनु को इड़ा के रूप का बोध कराने के लिए, व्यवसायात्मिका बुद्धि का रहस्य समझाने के लिए इड़ा सर्ग में कवि ने गूढ़-गम्भीर विचारों का ताँता लगा दिया है। मनु एकाकी विचरण कर रहे थे कि एक दिन सूर्योदय के समय एक सुन्दरी के दर्शन हुए जिसकी पलकें तर्क जाल-सी बिखरी थीं, उसका भाल शशिखण्ड के समान स्पष्ट था। मनु ने उससे परिचय पूछा और दोनों का व्यावहारिक परिचय हुआ। इड़ा को मनु की आवश्यकता थी, वह सारस्वत प्रदेश बसाने के लिए समर्थ पुरुष की तलाश में थी। इधर मनु भी श्रद्धा से खिन्न हो नारी के लिए व्याकुल थे। दोनों का मिलन हुआ। किन्तु श्रद्धाविहीन बुद्धि से भला क्या कार्य सम्पन्न होना था।

इड़ा के बाद कवि ने 'स्वप्न' सर्ग रखा है। इस सर्ग में श्रद्धा अपने गत और अनागत का स्वप्न देखती है। उसने स्वप्न में मनु का इड़ा के साथ सम्बन्ध देखा और भावी अनिष्ट की आशंका से वह व्याकुल हो उठी। स्वप्न में जो कुछ श्रद्धा ने देखा था वह कवि ने 'संघर्ष' शीर्षक सर्ग में पूरी तरह से घटित होता हुआ दिखाया है। मनु ने इड़ा के प्रति अत्याचार किया, प्रजा के साथ मनु का युद्ध ठन गया। प्रजा को भड़काने में उन असुर पुरोहितों का भी हाथ है जो पहले मनु को यज्ञ-प्रेरणा करनेवाले बने थे। युद्ध में मनु घायल होकर बेहोश होते हैं।

'निर्वेद' सर्ग में ध्वस्त सारस्वत प्रदेश का वर्णन करके कवि ने बुद्धिवाद की निस्सारता का मार्मिक चित्र अंकित किया है। इसी सर्ग में श्रद्धा का अपने पुत्र के साथ मनु से मिलन दिखाया गया है। यहीं श्रद्धा ने मलिन मूर्ति इड़ा को भी देखा। श्रद्धा ने प्रेमपूर्वक इड़ा को बुलाया और संसार का रहस्य समझा कर बुद्धिवाद की सीमाओं का उसे बोध कराया।। दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग कामायनी के तत्त्व-चिन्तन का परिपाक हैं। इन सर्गों में सामंजस्य के सिद्धान्त को शैव दर्शन की पीठिका पर अवस्थित करके आनन्द तक पहुँचाया गया है।

कामायनी में समरसता के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए प्रसाद जी ने गहन तत्त्व-चिन्तन की सरणि ग्रहण की है। अध्यात्म और व्यवहार दोनों

पक्षों के समवेत रूप को स्वीकार करके कवि ने जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा की है। बुद्धि और हृदय के सामरस्य के लिए किन-किन उपायों और मार्गों का अवलम्बन करना पड़ता है, यही कामायनी का सन्देश समझना चाहिए।

कामायनी का काव्य-शिल्प छायावादी काव्य-शैली के अनुरूप है अतः उसमें प्रतीक विधान की नवीनता तथा अप्रस्तुत योजना की विलक्षणता का होना तो स्वाभाविक ही है। प्रवन्ध कल्पना में त्रुटियों के रहने पर भी कामायनी का शिल्प और उदात्त भाव उसे सामान्य भूमि के ऊपर ही बनाये रहता है। कामायनी असाधारण और महान् है, यह बात भुलाई नहीं जा सकती। कामायनी के दोषों का विवेचन हम आगे करेंगे, अभी तो केवल सामान्य परिचय ही हमें अभीष्ट है। सौंदर्य, प्रेम और रहस्य की प्रौढ़तम कृति होने के कारण कामायनी की तुलना हिन्दी की किसी अन्य काव्य-कृति से नहीं की जा सकती। 'प्रसाद' जी इस कृति में पुरातत्ववेत्ता, इतिहासज्ञ, दार्शनिक और कवि तीनों रूपों में दृष्टिगत होते हैं। कामायनी की रचना करते समय कवि के समक्ष पराजित देवत्व और उभरता हुआ मानवत्व था अतः उसने मानवत्व की विजय का ही जय-घोष अपने काव्य में प्रतिपादित किया है।

कामायनी की कथा

कामायनी की कथावस्तु कुतूहल और संघर्ष-विहीन अत्यन्त लघु कलेवर वाली है। उस कथा को तीन वाक्यों में भी समेटा जा सकता है किन्तु पाठक की जानकारी के लिए कामायनी की कविता के भावानुवाद का संक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है। जल-प्लावन के भयानक प्रकोप में देव-सृष्टि के ध्वंस हो जाने के बाद सौभाग्य से केवल मनु ही शेष रह जाते हैं। हिमालय की ऊँची चोटी पर एक शीतल शिला की छाया में वे शरण लेते हैं और वहीं बैठे-बैठे वे अपने अतीत, अनागत और वर्तमान पर विचार-मग्न हो जाते हैं। जल-प्लावन समाप्त होता है और मनु को जीवन-यात्रा के लिए खाद्यान्न का संग्रह करना पड़ता है। शालियाँ बीनकर वे पाक यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं। यज्ञ-शेष को इसलिए एक ऊँची शिला पर रख देते हैं कि यदि मेरे ही समान और कोई प्राणी शेष होगा तो उसकी प्राण यात्रा चल सकेगी। उस पाक यज्ञ के शेष को श्रद्धा ग्रहण करती है और मनु के सम्पर्क में आती है, परिचय होना

है, घनिष्ठता बढ़ती है और दो आत्माओं का मिलन बड़े स्वाभाविक रूप से होता है। जल-प्लावन से किलात और आकुलि नामक दो असुर भी बचे हुए थे। उनका भी मनु से परिचय हुआ और मनु उनकी प्रेरणा से मित्रा-वरुण यज्ञ करके पशु-हिंसा प्रारम्भ कर देते हैं। श्रद्धा का हिंसा से विरोध है। वह मनु को रोकती है किन्तु मनु की उच्छृंखल प्रवृत्तियां बढ़ती जाती हैं और वे स्वार्थपरायण व्यक्ति के रूप में अपनी इच्छा को ही प्रधानता देने लगते हैं। आखेट-मृगया शुरू हो जाती है और जीवन में हिंसा और उत्पात का प्राधान्य हो जाता है। इधर श्रद्धा गर्भवती होने के कारण घर बसाने की धुन में लगी रहती है। भावी सन्तान के लिए वस्त्र-निर्माण, कुटी प्रसाधन, शालि संग्रह में ही उसका अधिक समय व्यतीत होता है। मनु आत्म सुख-लोभी श्रद्धा के इस क्रिया-व्यापार में अपने प्रति उपेक्षा देखते हैं ; उन्हें यह अच्छा नहीं लगता कि श्रद्धा का समर्पण किसी और के लिए हो अथवा वह उनको छोड़कर किसी और की चिन्ता करे।

श्रद्धा के इस ममत्व को मनु ने अपने प्रति उपेक्षा क्यों समझा यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक आधार पर बुद्धिग्राह्य नहीं लगता। किन्तु आत्मनिष्ठ व्यक्ति की संकीर्णता का इससे पूरा पता चलता है। मनु को गर्भस्थ शिशु के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई और आसन्नप्रसवा श्रद्धा को छोड़कर वे चले जाते हैं। मनु एकाकी हैं, किन्तु उनके मन में नारी के प्रति गहरा आकर्षण समाया हुआ है। सौभाग्य से वे उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं। इस नगर की रानी इड़ा से उनकी भेंट होती है। इड़ा को एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उस ध्वस्त नगर को फिर से बसाने में योग दे सके। संयोग की बात मनु को यह कार्य सौंपकर इड़ा ने उन्हें नगर का शासक भी बना दिया। मनु ने अपने सामर्थ्या-नुसार उस ध्वस्त नगर को फिर से बसाने में पूरा योग दिया और नगर सब प्रकार के वैभव से परिपूर्ण दिखाई पड़ने लगा। नगर में सुख-भोग के समस्त उपकरण जुट जाने पर मनु का मन उसके भोग के लिए व्यग्र हो उठता है और वे इड़ा के प्रति अपने मन की वासना व्यक्त करने में भी संकोच नहीं करते। मनु की उद्दाम वासना इड़ा को चुनौती देकर सामने आती है। इड़ा मनु के प्रति विद्रोह करती है और सारस्वत प्रदेश की जनता भी इड़ा का साथ देती है। किलात और आकुलि इस विद्रोह में नेता बनते हैं और मनु को भयंकर

युद्ध-संघर्ष का सामना करना पड़ता है। युद्ध का परिणाम मनु के विपरीत होता है और अन्त में मनु प्रजा के भीषण प्रहारों से प्रताड़ित होकर अचेत दशा में पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। इड़ा का मनु के प्रति यह विद्रोह कामायनी में एक विशिष्ट संकेत का द्योतक है। रूपक की दृष्टि से बुद्धि का प्रयोग करके सफलता प्राप्त करनेवालों का अन्त इसमें संकेत शैली से ध्वनित होता है।

मनु के चले जाने के बाद एकाकिनी श्रद्धा को अपनी जीवन-रक्षा के साथ अपनी सन्तान—जिसे उसने कुमार नाम दिया है—की रक्षा के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसी बीच एक रात श्रद्धा स्वप्न में देखती है कि मनु पर भयंकर संकट आ पड़ा है। वासना के शिकार मनु को इड़ा तथा सारस्वत नगर की प्रजा के हाथों ताड़ना सहनी पड़ी है। स्वप्न की बात का स्मरण करती हुई श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को साथ लेकर उस स्थान की तलाश में चल देती है जहाँ मनु को यह सब भोगना पड़ा था। चलते-चलते अन्त में वह सारस्वत नगर पहुँचती है और मूर्च्छित दशा में घायल पड़े मनु को देखकर उनकी सेवा-परिचर्या में लग जाती है। उसके मन में उस समय कोई प्रतिशोध नहीं है—वह नारी जन-सुलभ ममता और करुणा से द्रवीभूत होकर मनु को स्वस्थ करने में लीन रहती है। मनु स्वस्थ होने पर श्रद्धा को अपने समीप सेवा-रत पाकर स्वयं आत्मग्लानि से भर जाते हैं और एक रात चुपचाप वहाँ से भाग खड़े होते हैं। मनु के भाग जाने से श्रद्धा निराश नहीं होती वरन् अपने पुत्र कुमार को इड़ा को सौंपकर और उसे इड़ा की शासन-व्यवस्था में सहयोग देने का आदेश देकर स्वयं मनु की खोज के लिए निकल पड़ती है। मनु वहाँ से भागकर सरस्वती नदी के किनारे तपस्या करने लगे थे। ढूँढ़ते-खोजते श्रद्धा वहाँ पहुँची। श्रद्धा के पहुँचते ही मनु को नटराज शिव के दर्शन होते हैं। मनु श्रद्धा से आग्रह करते हैं कि वह उनको शिव के चरणों तक ले चलने में सहायता करे। श्रद्धा मनु का पथ-प्रदर्शन करती है और मार्ग में चलते समय त्रिपुर का रहस्य भी मनु को समझाती है। श्रद्धा और मनु का यह संवाद कामायनी की दार्शनिक विचारधारा का सबसे गंभीर स्थल है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन शक्तियाँ सम्बद्ध भावलोक, ज्ञानलोक और क्रियालोक का रहस्य बताकर श्रद्धा कहती है कि जब तक ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं तब तक अपूर्ण हैं। इन तीनों का समन्वय ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। श्रद्धा अपनी स्थिति से सामरस्य की स्थिति उत्पन्न करके मनु

को अपार आनन्द से परिपूर्ण कर देती है। मनु को तत्काल एक दिव्य अनाहत नाद सुनाई पड़ता है और स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि सब नष्ट हो जाते हैं। मनु को एक अखंड आनन्द का अनुभव होता है।

इस दिव्य कोटि के आनन्द लाभ का स्थान कवि ने कैलाश गिरि बताया है। उधर इड़ा और कुमार भी अखंड आनन्द की खोज में अपने नगर की समस्त प्रजा को लेकर कैलाश धाम की यात्रा के लिए निकल पड़ते है। यहाँ आने पर उनकी मनु और श्रद्धा से भेंट होती है और वे सब एक परिवार के अंग बन जाते हैं। इस स्थान पर त्रिपुर का रहस्य सबको भली भांति विदित हो जाता है और वे सब सांसारिक भेदभाव भूलकर सामरस्य की स्थिति में पहुंच जाते है। इस समरसता पर पहुँचना ही अखंड आनन्द की प्राप्ति है और यही कामायनी का उद्देश्य कहा जा सकता है।

कामायनी के इस लघु कथानक में सांसारिक संघर्ष का प्रायः अभाव है। सारस्वत प्रदेश का संघर्ष ही युद्ध का आभास देने वाली घटना कही जा सकती है। समस्त कथानक को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है: (क) जल-प्लावन के उपरान्त मनु की मनोदशा; (ख) मनु-श्रद्धा का मिलन और गृहस्थ-जीवन; (ग) मनु-इड़ा मिलन और सारस्वत प्रदेश का संघर्ष; एवं (घ) मनु की कैलाश यात्रा और त्रिपुर रहस्य की प्रतीति से अखंड आनन्द प्राप्ति। इस प्रकार हम देखते हैं इस लघु कथानक में बाह्य संघर्ष का अपेक्षाकृत अभाव होने पर भी आन्तरिक संघर्ष और मनोवृत्तियों के क्रमिक विकास की लम्बी कहानी अन्तर्हित है, जिसे प्रसाद जी जैसे प्रतिभाशाली मेधावी कवि ही प्रस्तुत कर सकते थे।

कामायनी के पात्र और चरित्र-चित्रण

महाकाव्य का विशाल कलेवर पात्रों के चरित्र-चित्रण; घटनाओं के वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के अंकन से निर्मित होता है। युद्ध-संघर्ष, विप्लव-क्रांति, प्रेम-विवाह, आखेट-अभियान आदि स्थूल घटनाओं का विधान तथा प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन कथावस्तु को विकसित और चमत्कृत करने के लिए किया जाता है; किन्तु यथार्थ में, कथानक का मेरुदंड तो काव्य के प्रमुख पात्र ही हैं। उन्हीं के चरित्र की गतिविधि से महाकाव्य की मूल कथा पल्लवित होकर

चरमोत्कर्ष—फलागम—तक पहुँचती है। कदाचित् इसी कारण आधुनिक महाकाव्य की सफलता का मापदंड चरित्र-चित्रण का सौष्ठव माना जाता है। काव्य में पात्र ही जीवित—प्राणवान्—शक्ति हैं, उन्हीं के क्रिया-कलाप को चित्रित करके प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य को सजीव बनाता है। घटना और दृश्य तो जड़ हैं, उनके वर्णनमात्र से काव्य में प्राण-संचार सम्भव नहीं।

पात्रों की अवतारणा और उनका चरित्र-विकास कवि की अपनी सृष्टि होने पर भी उसमें कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि पर आधारित काव्य को छोड़कर जब कवि किसी कल्पित कथानक का निर्माण करता है तब निश्चय ही उसे मनोनुकूल पात्रों की सृष्टि करने की छूट रहती है। स्व-निर्मित पात्रों के चरित्र का विकास भी तब उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु इस स्वयम्भू-सृष्टि में भी जगत् के नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। सहृदय पाठक सदैव उसी चरित्र की सराहना करेंगे जो अपने स्वभाव से विशिष्ट होने पर भी सामान्य (मानव) की कोटि में आकर पाठक की भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। यदि कोई पात्र अपने भीतर असम्भावित और अकल्पित शक्ति लेकर धरा-धाम पर आता है, तो उसे हम अति मानव ही कहेंगे और उसके चरित्र को हम समाज का अंग नहीं मानेंगे। इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गये महाकाव्यों में कवि का अधिकार अपेक्षाकृत और अधिक सीमित हो जाता है। इतिहास-विदित क्रूर और नृशंस पात्र को स्निग्ध और सदय चित्रित करनेवाले कवि की प्रतिभा पर न तो हम मुग्ध होते हैं और न हम उसे तथ्यांकन की त्रुटि के लिए क्षमा ही कर सकते हैं।

कामायनी इतिहास की पृष्ठभूमि पर रूपक शैली से लिखा हुआ एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें न तो पात्रों की भीड़-भाड़ है और न घटनाओं का घटाटोप तथा विस्तार ही। कवि को इतिवृत्त की प्राचीनता का मोह है, अतः उसकी भी वह रक्षा करना चाहता है। साथ ही रूपक के द्वारा अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों की स्थापना करना भी उसे अभीष्ट है। ऐसी परिस्थिति में स्थूल घटनाओं का परिहार करता हुआ वह चरित्रों के मूल में सन्निविष्ट उनकी भावनाओं को ही पकड़ने का मुख्य रूप से प्रयत्न करता है। सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उससे उत्पन्न हुई विचित्र मनोदशा के चित्रण में कवि ने बड़ी

सतर्कता से काम लिया है और उसी को मुख्यतः चरित्र-चित्रण का आधार बनाया है। पात्रों के माध्यम से मनस्तत्त्व का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जो वैयक्तिक चरित्र की विशेषता के उद्‌घाटन के साथ वर्गगत सामान्य मानव मनोवृत्ति का भी परिचायक है।

कामायनी को हम महाकाव्य मानते हैं, अतः उसके पात्रों में महाकाव्य के अनुरूप चारित्रिक विशेषता का होना अनिवार्य है। महाकाव्य में सामान्यतः दो कोटि के पात्र होते हैं। एक तो महान् और उदात्त चरित्र वाले पात्र, जो नायक और उसके सहयोगी की कोटि में आते हैं। दूसरी कोटि के पात्र वे हैं जो अपनी हीन मनोवृत्ति का परिचय देते हुए नायक के सत्पथ का अवरोध करने में लीन रहते हैं। प्रतिपक्षी होने के कारण काव्य में इनकी संज्ञा 'खल' या Villain होती है। खल पात्रों की अवतारणा में कवि का उद्देश्य यथार्थ-चित्रण तथा नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाना होता है।

भारतीय प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार महान् चरित्र (Gerat Character) की एक निश्चित धारणा व परिभाषा थी—उस परिभाषा को घेरकर ही पात्र महत्त्व या उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता था। नायक का सम्बन्ध उच्च वंश से होना आवश्यक समझा जाता था और युद्ध, संग्राम, आखेट आदि में अतुल पराक्रम का परिचय देना भी उसके अनिवार्य गुणों में था। दशरूपक में नायक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"महासत्त्वोऽति गम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरोनिगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥"

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी लगभग यही लक्षण दिया है—

" सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥"

किन्तु आधुनिक युग में नायक या Great Character की परिभाषा में पर्याप्त अन्तर हो गया है। आज केवल युद्ध-विजय या सैन्य-संचालन ही पराक्रम और महत्त्व का द्योतक नहीं माना जाता, आज तो किसी प्रकार के महान्-संघर्ष में संलग्न होना और उसमें विजय पाना ही महानता है। महान् शब्द की परिधि आज व्यापक हो गई है। महान् कार्य के भी आज विविध रूप हैं। विजय, त्याग, उत्सर्ग, आत्म-बलिदान, कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा आदि भी महत्त्व के

अंग हैं। विप्लव और राज्य-क्रान्ति में भाग लेकर सामान्य सिपाही या स्वय-सेवक भी महान् हो सकता है। इसके साथ ही रचनात्मक कार्यों में तत्पर अव्यवसायी, शान्त और निरुपद्रवी व्यक्ति भी महान् समझे जाते हैं। शान्ति-प्रसार में लीन व्यक्ति को कौन सदाशय और महात्मा न कहेगा ? जन-कल्याण के सभी कार्य महान् होते हैं। उनके साधक भी महापुरुष गिने जाते हैं। राज्य-तन्त्र या समाजतन्त्र में व्यवस्था तथा सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग करने वाले सामान्य मानव भी महान् हैं और उनकी प्रतिष्ठा महाकाव्य में नायक (Great Character) के रूप में होती है। संक्षेप में, आज नायक तथा उदात्त चरित्रों की अवतारणा के लिए प्राचीन परम्परा का निर्वाह अनिवार्य नहीं रह गया है। संघर्ष की भूमिकाएँ परिवर्तित हो गई हैं और संघर्ष स्थल भी वदल चुके हैं। अपने ही मानसिक संघर्ष से जूझने वाले मनस्वी व्यक्ति भी महान् होते हैं और उनका चित्रण पश्चिमी देशों के साहित्य में प्रचुर परिमाण में हुआ है।

कामायनी के पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय 'महत्त्व' की व्यापक परिधि ही प्रसाद जी के सामने रही है। यद्यपि प्राचीनों की मर्यादा में मनु और श्रद्धा का चरित्र आ जाता है, किन्तु कवि ने आधुनिक विचारधारा के आधार पर ही इन दोनों के महत्त्व (Greatness) का प्रतिपादन किया है। कामायनी के पात्रों का चरित्र उनके नाटकीय पात्रों से कुछ भिन्न शैली का है। कामायनी के तीनों प्रमुख पात्र—मनु, श्रद्धा और इड़ा—वहिर्मुख की अपेक्षा अन्तर्मुख अधिक हैं और अपनी इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण ही वे स्थूल घटनाओं में अपेक्षाकृत कम उलझते हैं। उनके जीवन में वाह्य संघर्ष के साथ अन्तःसंघर्ष का भी उतना ही महत्त्व है। अन्तःसंघर्ष द्वारा वे अपना ही पथ निश्चित नहीं करते वरन् समस्त मानव-जाति के लिए कर्म-पथ का इंगित करते हैं। कामायनी के पात्र कार्य-व्यापार का निर्वाह करते हुए अपनी भावुकता सहृदयता और कल्पना का त्याग नहीं करते। वे चिन्तन और मनन के द्वारा अतीत और अनागत का पर्यालोचन करते हैं। प्रसाद का यह अपना एक विशिष्ट गुण है कि वे अपनी पात्र-सृष्टि को चिन्तन, मनन, कल्पना और भावुकता से सर्वथा परिपूर्ण रखते हैं। शुष्क, नीरस, और जड़ पात्रों की सृष्टि वे नहीं कर सकते। उनका अभिप्रेत आनन्द-प्राप्ति रहता है। अतः अन्त में उनको आनन्दा-

भिमुख करने के लिए यह स्थिति अपरिहार्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों में महाकाव्य तथा गीतिकाव्यों के तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण (Marvellous combination of epical and lyrical traits) देखने में आता है। महाकाव्य की दृष्टि से जो पात्र संघर्ष-लीन और कठोर विपदाओं से जूझ रहा है, वही पात्र अपनी सहज संवेदना और ममता से द्रवीभूत होकर गीतिकाव्य की शैली से अपनी कोमल और सुकुमार भावनाओं को भी अभिव्यक्त कर रहा है। कदाचित् इसी कारण कामायनी में अप्रासंगिक रूप में भी कुछ गीत आ गये हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में भी इस शैली को स्वीकार कर भावपूर्ण गीतों की सृष्टि की है।

आदर्श और यथार्थ की आधुनिक कसौटी पर यदि हम कामायनी के चरित्रों की परख करें, तो हमें मनु और इड़ा में यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा श्रद्धा के चित्रण में आदर्शवादी भावना का सन्तुलित पुट मिलेगा। प्रसाद ने अपने नाटकों में नारी-पात्रों का चित्रण भारतीय आदर्श के आधार पर किया है। श्रद्धा के चित्रण में प्रसाद अपने नारी-चरित्र की सर्वश्रेष्ठ भावना तक पहुँचे हैं। इड़ा का चित्रण आधुनिक युग की अनेकानेक विडम्बनाओं का आभास देता हुआ एक ऐसी नारी को पाठक के सामने लाता है, जो यथार्थ पर विकसित होकर नारी के दर्प, अहंकार, बौद्धिक वैभव आदि का घातक रूप व्यक्त करने में सफल है। नाटकों में जहाँ पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व या मानस-संघर्ष चित्रित हुआ है वह निर्वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। कामायनी में व्यक्तित्व तक ही वह सीमत नहीं—उसे मानव सामान्य (नर-नारी) का मानस-संघर्ष कहा जाना चाहिए। नाटकों में नायक के चरित्र का विकास प्रतिपक्षी खलनायक के क्रूर कार्यों की तुलना में उदात्त दिखाकर किया गया है, कामायनी में खलनायक के अभाव में उसके लिए अवकाश ही नहीं। मनु की अपनी भावनाएँ ही उसके चरित्र के उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी हैं। नाटकों की भाँति कामायनी के पात्रों में भी दार्शनिकता और भावुकता का मणिकांचन संयोग देखा जा सकता है।

जैसा कि पहले लिख चुके हैं कि कामायनी में पात्रों की भीड़ नहीं है। पात्र-विरल महाकाव्य की दृष्टि से ही हमें इसके चरित्र-चित्रण पर विचार करना चाहिए। कामायनी के प्रमुख पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। इनके अतिरिक्त

तीन पात्र और हैं जो अपना अस्तित्व रखते हुए भी नगण्य हैं। वे हैं—मनु और श्रद्धा का पुत्र कुमार तथा असुर-पुरोहित आकुलि और किरात। काम और लज्जा को अशरीरी पात्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उनका सांकेतिक महत्त्व होने पर भी कथानक की स्थूल घटनाओं को वे प्रभावित नहीं करते। अतः चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हम केवल तीन प्रमुख पात्रों पर ही प्रकाश डालेंगे।

मनु

कामायनी महाकाव्य में मनु का व्यक्तित्व दो रूप रखता है; एक ऐतिहासिक और दूसरा साँकेतिक। वैदिक वाङ्मय में विख्यात वैवस्वत मनु ही यहाँ ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में गृहीत हुआ है। प्रसाद ने कामायनी के आमुख में स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है कि "मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के युग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।" मनु को ऐतिहासिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए शतपथब्राह्मण का संकेत भी दिया है। शतपथब्राह्मण में मनु को श्रद्धा देव कहा गया है और बताया गया है कि श्रद्धा और मनु से ही मानवीय सृष्टि का सूत्रपात हुआ। शतपथब्राह्मण के आठवें अध्याय में मनु का वर्णन इस प्रकार है—

"मनवे हवै प्रातः। अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवने।
जनायाहरन्त्येवं तस्यावने निजानस्य मतस्यः पाणीऽआपेदे।"

—शतपथब्राह्मण; प्रथम काण्ड; अष्टम अध्याय

प्रातःकाल मुख प्रक्षालनादि के निमित्त जल लेते हुए मनु के हाथ में मछली आ गई। उस मछली को मनु ने पकड़ लिया और उसके सहारे अपनी नौका की रक्षा की। इस प्रकार आगे इड़ा का दुहिता के रूप में अवतरित होना वर्णित है। इतना प्रसंग मनु का अस्तित्व तो स्थापित कर ही देता है, किन्तु मनु की किसी विशिष्ट चारित्रिक प्रवृत्ति का बोध नहीं कराता। मनु का चरित्र-विकास तो प्रसाद को स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर ही करना पड़ा है। शतपथ-ब्राह्मण के अतिरिक्त महाभारत तथा पुराणों में भी मनु का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। महाभारत के शान्ति-पर्व में मनु का जो रूप उपलब्ध होता है वह

न्याय-परायण, सशक्त राजा या शासक का है। कामायनी में इस रूप का कुछ आभास मिलता है। मनुस्मृति के रचयिता के रूप में मनु हमारी पुरातन परम्परा के स्मृतिकार हैं। इनका चरित्र भी नीति-परायण, विद्वान मुनि का ही है। इन रूपों का समन्वय डा० फतहसिंह ने अपनी 'कामायनी सौंदर्य' नामक पुस्तक में इस प्रकार किया है। "मनु का पहला प्रजापति रूप है जो कामायनी में भी 'मनु-इड़ा-युग' में मिलता है। दूसरा वौद्धिक कर्मकाण्डी ऋषि रूप है जो यहाँ जल-प्लावन में श्रद्धा-त्याग तक माना जा सकता है और उसके भी दो पहलू हैं—पहला, तपस्वी मनु जो 'किलाताकुलि' के आने से पूर्व मिलता है; दूसरा, हिंसक यजमान मनु का जो असुर-पुरोहितों के आगमन के पश्चात् पाया जाता है। परन्तु प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त कामायनी के मनु का एक तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु-इड़ा-युग' के अन्त होने पर आनंन्द-पथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता हैं। यह प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु का रूप है, इन्हीं तीनों रूपों में मनु-चरित्र का अध्ययन करना है।"

—कामायनी-सौन्दर्य; पृष्ठ १४७

यदि मनु को वैदिक कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में देखा जाय, तो तपस्वी मनु का वर्णन हमें सर्ग के प्रारम्भ में ही मिलता है। चिन्तन, मनन और साधना के साथ अग्निहोत्र, यज्ञ आदि का विधान भी 'प्रसाद' ने तपस्वी मनु के चरित्र में किया है। दूसरा, हिंसक यजमान मनु का रूप यज्ञ में पशु-बलि करने वाला मिलता है। स्वच्छन्द रूप से वासना तृप्ति में लीन यह रूप भी कामायनी के "वासना' और कर्म शीर्षक सर्गों में देखा जा सकता है। बौद्धिक वाङ्मय में किलात और आकुलि के पौरोहित्य में मनु का आखेट, पशु-बलि तथा हिंसा-प्रेम होना कहा गया है। मनु का प्रजापति रूप तो ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराण सभी में है। प्रजापति शब्द का अर्थ है प्रजा का पालन करने वाला या बनाने वाला। प्रजापति शब्द का प्रयोग इसीलिए पिता, जनक, ब्रह्मा तथा राजा आदि अर्थों में पाया जाता है। कामायनी में मनु को प्रजापति कहकर अनेक स्थलों पर सम्बोधित किया गया है। प्रसाद जी ने प्रजापति शब्द के साथ मनु का सम्बन्ध भली भांति स्थापित रखा है। किन्तु इतना स्मरण रहे कि महाभारत आदि के वर्णित मनु से कामायनी का मनु स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखता है। कामायनी का मनु वासना का शिकारी, अनाचारी, अत्याचारी तथा दर्प

और दया का पुतला बनकर भी आता है। यह परिवर्तन कदाचित् युगीन समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने के उद्देश्य से कवि ने किया है।

वैदिक वाङ्मय में मनु के जो विविध रूप आते हैं उनका किसी-न-किसी रूप में वर्णन प्रसाद ने कामायनी में भी किया है, किन्तु अपनी कथावस्तु को मौलिक रखने के कारण उन रूपों का प्रतिपादन अक्षरशः कवि ने नहीं किया; केवल आभास मात्र ही दिया है जिसे खोज निकालने के लिए पाठक को प्रयत्न करना होगा। ऐतिहासिक मनु का कोई एक रूप नहीं, उसका चरित्र व्यापक और विशद है। प्रसाद जी ने उसमें से अपने अनुरूप ही चयन किया है, मनु की युग-युगव्यापी जीवन-गाथा को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया है।

श्रीमद्भागवत-पुराण में मनु को श्रद्धा का पति तथा दस पुत्रों का जनक कहा गया है। प्रसाद ने दस पुत्रों की बात को सर्वथा त्याग दिया है। श्रद्धा के एक पुत्र 'कुमार' का ही कामायनी में उल्लेख है। इड़ा को शतपथब्राह्मण में मनु के यज्ञान्न से पालित कन्या बताया गया है, किन्तु कामायनी में उसे मनु की 'आत्मजा-प्रजा' कहकर कवि ने उसका परिचय कराया है। संक्षेप में ऐतिहासिक मनु का कामायनी में विशेष स्थान दृष्टिगत नहीं होता। प्रमुखता तो उनके सांकेतिक रूप की ही है। यथार्थ में मनु, मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक है और उसी जीव के क्रिया-व्यापार को कवि ने प्रस्फुटित किया है।

मनु के व्यक्तित्व में देव-अंश की अवतारणा प्रसाद ने प्रारम्भ में ही उसकी शरीर-सम्पत्ति का वर्णन करके तथा उसे चिन्तनशील बताकर की है—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियां,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।"

किन्तु दूसरी ओर अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट और अपने अतीत पर खिन्न मनु ने जिस रूप में अपना अस्तित्व व्यक्त किया है, वह एक पराक्रमी और शक्तिशाली व्यक्ति के अनुरूप नहीं है—

"आज अमरता का जीवित हूँ,
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ;

आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
अधम पात्रमय सर विष्कम्भ।"

मनु के चरित्र में अहंकार, व्यक्तिवाद या आत्मवाद (Individualism) का विकास कवि ने इस कोटि तक किया है कि वह अपने अहं के विस्फोट में अपनी सीमाओं को भी भूल जाता है। आत्मसुख को ही सब कुछ समझ बैठने वाला मनु इन्द्रियासक्ति को ही जीवन का चरम सुख मानने लगता है और श्रद्धा को भी इसी संकीर्णता में बांधना चाहता है—

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी,
श्रद्धे ! वह भी कुछ है।"
दो दिन के इस जीवन का तो,
वही चरम सब कुछ है।"

× × ×

"कुचल उठा आनन्द, यही है
बाधा, दूर हटाओ;
अपने ही अनुकूल सुखों को,
मिलने दो मिल जाओ।"

इसके बाद ईर्ष्या सर्ग में मनु की आभ्यन्तर भोगवृत्तियों का और अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। मनु, श्रद्धा को अपनी मुट्ठी में बन्द करके अपनी क्रीत-दासी के समान रखना चाहता है। उसे इस बात में विश्वास नहीं कि वह विश्व-रचना के उद्देश्य से भी अपनी ममता को कहीं और वितरित करे—

"यह जलन नहीं मैं सह सकता,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बांटने का प्रकार;
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"

मनु का व्यक्तिवाद ऊपर की पंक्तियों में इतना प्रबल हो उठा है कि उसे

अपने अधिकारों की सीमा में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं। यह मानना होगा कि अधिकार की यह कल्पना कितनी भी मादक क्यों न हो, है तो काल्पनिक ही। जिसे हम अपना स्वत्वाधिकार समझते हैं क्या वह नैतिक दृष्टि से हमारा अधिकार कहा जा सकता है? आत्मवादी व्यक्ति के जीवन का अभिशाप यही है कि वह अपने अहं (Ego) को इस सीमा तक प्रवुद्ध कर लेता है कि उसे सांसारिक भोग-विलास की चरम परिणति में ही शरण मिलती है। ठीक यही बात मनु के चरित्र में भी घटित होती दीखती है। किलात-आकुलि के आने पर पशु-वलि करना, मदिरा-सेवन में लीन होना, श्रद्धा जैसी स्नेहमयी सती स्त्री के प्रति वासना की स्थूल काम-चेष्टाएँ प्रदर्शित करना और उसके साथ अतिचार की सीमा तक आचरण कर बैठना आदि इस तथ्य के निदर्शन हैं। वासना के अतिरेक तथा मदान्ध भोग-विलास के स्थूल चित्रण 'स्वप्न' शीर्षक सर्ग में बिखरे पड़े हैं। मनु इड़ा के साथ सारस्वत प्रदेश के निर्माण में संलग्न रहते हुए भी समस्त साधनों को स्ववश करने की बात ही निरन्तर सोचते रहते हैं—स्ववश करने में वे इड़ा को भी भूलते नहीं—

"क्या सब साधन स्ववश हो चुके ? नहीं अभी मैं रिक्त रहा,
देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहां।"

प्रबल उन्माद की तरलता में मनु इड़ा को अपने भुजपाश में बांध लेने का आग्रह करते हैं—अपनी उन्मत्त मनःस्थिति को वे प्रच्छन्न न रख कर स्पष्ट कह उठते हैं—

"ये सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया,
स्वर संचरित दिशा हैं, मन है उन्मन और शिथिल काया।
तब तुम प्रजा बनो मत रानी, नर-पशु कर हुंकार उठा;
उधर फैलती मदिर घटा-सी, अंधकार की घन माया।
आलिंगन फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे कांप उठी;
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।"

भोग-वृत्ति के अतिशय उच्छृंखल होने के कारण ही मनु को अपनी सीमा-मर्यादाओं का बोध नहीं रहा और वे अपने अहंकार तथा व्यक्तिवाद में ऐसे डूब गये कि देवत्व या मनुजत्व किसी भी रूप की रक्षा करना उनके लिए सम्भव न रहा। केवल पशुत्व ही उनके चारों ओर दृष्टिगत होने लगा।

मनु के चरित्र में प्रारम्भ से ही चिन्ता, निराशा और पराजय भावना को कवि ने चित्रित किया है। क्या मनु इतने निष्प्रभ, निर्वीर्य और निस्तेज व्यक्ति थे कि उन्हें चिन्ता, नैराश्य और दैन्य ही घेरे रहता था? जिस व्यक्ति के तन में पौरुष ओत-प्रोत हो रहा हो, जिसकी देह में अपार वीर्य ऊर्जस्वित होकर दमक रहा हो, जिसकी जीवन-साधना कष्ट और तितिक्षा पर विकसित हुई हो, उसे चिंता और पराजय-भावना से विजड़ित होना पड़े; इसका कारण क्या है? मनु की इस मनःस्थिति के तीन कारण प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होते हैं। पहला कारण तो देव-सृष्टि का ध्वंस है, जो मनु के अन्तर्मन पर प्रतिफल होकर उसे विक्षुब्ध और चिन्तित बनाता है। देव-सृष्टि का जो रूप मनु ने देखा था, वह प्रारम्भ में शक्ति-दर्प से भरा हुआ था, बाद में वह दर्प चकनाचूर हो गया। देवतागण अपने समस्त भोग-विलास के साथ विध्वंस को प्राप्त हुए। इस ध्वंस से मनु का चिन्ता-विजड़ित और नैराश्य-अभिभूत होना स्वाभाविक था। पराजय भावना और दैन्य का दूसरा कारण है मनु का अति भोगवादी होकर अपने अहं में लीन रहना। अतिशय भोगवाद (व्यक्तिवाद) का परिणाम पराजय-भावना का उत्पादक होता है। तीसरा कारण मनु के इस रूप में चित्रित होने का यह है कि प्रसाद जी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कवि हैं। उनकी अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की छाया ही चित्रण में अधिक पड़ी है। भोगवाद के प्रति प्रसाद जी के मन में एक प्रकार से सन्देह-शंका-पूर्ण जो विद्रोह था, वही मनु के इस असफल और अशान्त चरित्र में ध्वनित हो रहा है। विषाद की ध्वनि इस प्रकार के चित्रण में रहती है, जो कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का एक व्यक्त रूप है।

मनु के चरित्र को भली भाँति हृदयंगम करने के लिए उसकी पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति पर भी विचार करना अनिवार्य है। मनु का सबसे पहले श्रद्धा से परिचय होता है। देव-सृष्टि के ध्वंस के बाद श्रद्धा ही पहली नारी है जो मनु का अवसाद, नैराश्य और चिन्ता की स्थिति से उद्धार करती है। आशा और इच्छा का संचार करने के कारण श्रद्धा के प्रति मनु का पहले आकृष्ट और बाद में आसक्त होना स्वाभाविक है। आसक्त होना मानव-स्वभाव है, इसे हम मानव की दुर्बलता नहीं कहेंगे। किन्तु यह आसक्ति तनिक से अनभिलषित व्यवहार से विरक्ति में परिणत हो जाय तो मानव की

दुर्बलता के सिवा यह और कुछ नहीं कहा जायगा। मनु के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता ही यह है कि वह अपने प्रेम को स्थायित्व नहीं दे पाता। क्षण-भर में तुष्ट होने वाला व्यक्ति न तो कभी हार्दिकता का परिचय दे सकता है और न कभी वह अविचल रूप से प्रेम मार्ग में चल ही पाता है। श्रद्धा के प्रति विराग होते ही वह इड़ा के प्रति आकृष्ट होता है, आसक्त होता है, और वहाँ भी अपनी भावनाओं को तुष्ट होता न देखकर अन्त में विरक्त हो जाता है। अनुरक्ति और विरक्ति के इस क्रिया-व्यापार में मनु को सामाजिक मर्यादाओं तक का ध्यान नहीं रहता। अपने वैयक्तिक आनन्दवादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता देकर वह कार्य-रत रहता है। यह वैयक्तिक दृष्टि जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में बाधक होती है और इसी कारण अपनी अतुलित शक्तियों के बावजूद भी वह कृतकार्य नहीं हो पाता। आनन्दवादी दृष्टिकोण में मन की जो स्थिति रहती है वही मनु की है। मन का प्रतीक होने के कारण उसके चरित्र में इस प्रकार की दुर्बलता का चित्रण सांकेतिक दृष्टि से भी पूरी तरह घट जाता है।

कवि ने मनु के चरित्र में क्षमता और कार्य-शक्ति का अच्छा प्रभाव प्रदर्शित किया है। मनु की कार्य-क्षमता से आकृष्ट होकर ही इड़ा मनु के समीप आती है। वह जानती है कि सारस्वत-प्रदेश का निर्माण और उसकी शासन-व्यवस्था किसी महान् शक्तिशाली व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। यदि मनु जैसा तेजस्वी और पराक्रमी व्यक्ति इस कार्य को अपने ऊपर ले ले, तो उसका मनोरथ सहज ही में पूरा हो जाय। फलतः वह मनु को अपने प्रेम-पाश में बांध कर सारस्वत प्रदेश का निर्माण करवाती है। मनु को भी अपनी शक्ति पर दर्प है, वह स्वयं कहता है—

> "तुम्हें तृप्त कर सुख के साधन सकल बनाये।
> मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये॥"

किन्तु इस विलक्षण कार्य-शक्ति के साथ ही मनु के मन में निरंकुश अधिकार-भावना प्रबल वेग के साथ उत्पन्न होती है। इस निरंकुश अधिकार-भावना का प्रभाव इड़ा पर अच्छा नहीं पड़ता और वह मनु को सतर्क करती हुई कहती है—

> "मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
> तुष्टि, चेतना का क्षण अपना अन्य न माने।"

आह प्रजापति यह न हुआ है, कभी न होगा;
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ॥"

मनु की निरंकुश अधिकार-भावना का वर्णन कवि ने कई स्थलों पर किया है जिसका सांकेतिक अर्थ यह है कि मन के आवेग और उद्वेग के वशीभूत होकर कोई भी मानव उचित मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता। यही कारण है कि अपनी अतुलित शक्ति के रहते हुए भी मनु अन्त में यही अनुभव करता है कि इस जीवन में सच्चा सुख और शाश्वत शान्ति भौतिक उपायों से सुलभ नहीं और न भौतिक दृष्टिकोण ही जीवन दर्शन को सन्तुलित बना सकता है। जीवन के यथार्थ विकास के लिए मानव को भौतिकवाद का आश्रय छोड़ना ही होगा। सारस्वत प्रदेश के संघर्ष और उपद्रव के बाद मनु का मन आत्मग्लानि से भर जाता है। वह स्वयं कह उठता है—

"शापित-सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता-भटकता हूँ।
अन्त तमस है; किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा;
सब पर हाँ, अपने पर भी, मैं झुँझलाता हूँ खीज रहा ॥"

—निर्वेद सर्ग

इतना ही नहीं मनु की ग्लानि उसे पराजित मनोवृत्ति का शिकार बना देती है और वह जीवन के तथाकथित सुखों के प्रति एक उपेक्षा-दृष्टि कर लेता है। उसे लगता है कि यह एक इन्द्रजाल है जिसमें मैं स्वयं ही फँस गया था। मैंने भोग-वाद को अपनाकर अच्छा नहीं किया। श्रद्धा से विरक्त होकर चला आना भी मेरी भूल थी—मेरी दुर्बलता थी। अब कैसे मैं अपना मुँह श्रद्धा को दिखा सकूँगा। वह पुकार उठता है—

"सोच रहे थे—जीवन-सुख है ? ना, यह विकट पहेली है;
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल ने कितनी व्यथा न झेली है ?
यह प्रभात की स्वर्ण किरण-सी झिलमिल चंचल-सी छाया;
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे, यह मुख या कलुषित काया।"

मनु को अपने चरित्र की दुर्बलता का पता अन्त में स्वयं लग जाता है। कवि का अभिप्राय भी इस चित्रण से यही विदित होता है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण रखकर चलने पर जीवन में परम सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुख

की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने के उपरान्त आत्मग्लानि, कुण्ठा और पराजित मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ता है और परिणाम में पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

कामायनी के अन्तिम तीन सर्गों में मनु का चरित्र एक साथ परिवर्तित होता है। एक ऐसा मोड़ (टर्निङ्ग प्वाइंट) उसके जीवन में आता है जहाँ से वह पीछे का दम्भ, दर्प, अहंकार सब कुछ तिरोहित होता हुआ देखता है और उसे नूतन प्रकाश-किरण का आभास मिलता है। मनु का जीवन-दर्शन ही जैसे बदल जाता है। वह समाधि-सुख के लिए व्यग्र हो उठता है और अपने भीतर ही उसे एक ऐसा परिवर्तन लगने लगता है कि पीछे की संघर्षमयी भौतिकवादी स्थिति उसे स्वयं घोर विनाशकारी प्रतीत होती है।

'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा मनु को शाश्वत सुख का रहस्य उद्घाटित करके समझाती है। जगत् यथार्थ में परिवर्तनशील है। यह जगत् का स्वरूप है जो नित्य नये-नये रूप धारण करता रहता है। इस जग को ठीक-ठीक समझने के लिए जागरूक रहकर जीवन यापन करना चाहिए। मनु इस तथ्य को जानते हुए भी कुछ समय के लिए पूर्ण रूप से विस्मृत कर बैठे थे—

"चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बांट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत-शत,
कण विरह मिलन में नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत,
तल्लीनपूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग-जाग' !"

इसके आगे 'रहस्य' सर्ग में इच्छा, ज्ञान और कर्म-लोक का परिचय भी वही कराती है। वही मनु से कहती है कि ज्ञान-लोक में पहुँच कर मनुष्य को भौतिक सुखों की तृप्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता।

"यहां प्राप्य मिलता है केवल,
तृप्ति नहीं कर भेद बांटती।

बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती।"

श्रद्धा के इस रहस्योद्घाटन से मनु का अन्तर्लोक सहसा प्रकाशित हो उठा। मनु श्रद्धा के साथ आनन्द में लीन हो गये। दिव्य अनाहत पर निनाद 'में, श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।' मनु को इस आनन्द की अनुभूति न तो अपनी अहंकारमयी प्रवृत्ति से होती है और न इड़ा के बौद्धिक व्यापार से ही मनु इसी प्रकार के स्थायी सुख का अनुभव करते हैं। सुख और आनन्द का मार्ग अन्त में श्रद्धा द्वारा ही प्रशस्त होता है। मनु के चरित्र की दुर्बलता ही यही है कि अपने असीम बल के साथ भी वह इतना कमजोर है कि स्थूल जगत् से परे वह देख ही नहीं सकता और इसी संसार के (भौतिक ज्ञान-विज्ञान) के ऊपर टिका हुआ शाश्वत सुखानुभूति में लीन रहने की मिथ्या विडम्बना करता रहता है।

कामायनी में चित्रित मनु-चित्रण को हम पूर्ण विकसित, महाकाव्य के अनुरूप, चरित्र नहीं कह सकते। प्रसाद ने मनु को जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह समर्थ एवं सफल नायक की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आता। चरम-आनन्द की प्राप्ति ही इस काव्य का फलागम है जिसके लिए महाकाव्य के पात्रों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। किन्तु मनु इस महत्कार्य के योग्य, शक्तिशाली और क्रियाशील चित्रित नहीं हुए। जैसा बड़ा कार्य है वैसा ही बड़ा प्रयत्न, सामर्थ्य और सम्भार होना चाहिए। कामायनी का अन्तिम ध्येय यही है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनु मानव-सभ्यता की स्थापना करें। देवगण का निर्बाध विलास सभ्यता का ही नहीं अपितु समस्त मानवता का संहारक सिद्ध हो चुका था। मनु ने स्वयं उस विनाश को देखा था। अतः अब स्थिति यह थी कि मनु जैसे भी हो, मानव-सभ्यता की स्थापना के लिए अपनी आन्तरिक उदात्त-भावना का परिचय दें, अपने जीवन के वाह्य क्रिया-व्यापार में वे इतनी विशालता रखें कि नूतन सभ्यता की स्थापना में उनका योग-दान व्यक्त हो सके। इसके लिए आवश्यक था कि मनु के चरित्र में अत्यधिक उदात्तता और सदाशयता (Magnitude) तथा जीवन-व्यापी विस्तार (Dimension) की स्थापना होती। किन्तु उसका अभाव ही बना हुआ है जो खटकता है। मनु अपने आप में भले ही शक्तिशाली, पौरुषमय और कर्मठ हों, किन्तु महाकाव्य के

क्रिया-व्यापार की दृष्टि से उसका चरित्र दुर्बल है। मनु का प्रेम, त्याग, समर्पण सभी कुछ मानवीय शक्ति का शुद्ध स्वरूप लेकर नहीं होता है, कामुकता और विलासिता के आकर्षण से ही वह प्रेम और उत्सर्ग की बात करता है। स्त्री के प्रति उसका दृष्टिकोण प्रारम्भ से अनुदार है, वह स्त्री को पुरुष की छायामात्र मानकर चलता है। अपनी वासना-तृप्ति के लिए वह श्रद्धा और इड़ा दोनों के ही जीवन की क्षणिकता की बात कहकर मदिरा सेवन को प्रेरणा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनु के चरित्र में मानव-प्रवृत्तियों का व्यापक आभास देने की ओर प्रसाद जी का ध्यान रहा है किन्तु उसे महान् चरित्र (Great epic character) बनाने की ओर उतना ध्यान वे नहीं दे पाये।

श्रद्धा

कामायनी में श्रद्धा प्रमुख पात्र है। महाकाव्य की प्रमुख घटनाएँ तथा अन्य कार्य-कलाप श्रद्धा के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर परिचालित होते हैं। फल-निष्पत्ति की दृष्टि से भी कामायनी के उद्देश्य पर विचार किया जाय, तो वह सामरस्य के मार्ग से शाश्वत आनन्दोपलब्धि है, जो श्रद्धा के पथ-निर्देश और प्रयत्न से ही साध्य है। भारतीय नारी के सम्बन्ध में प्रसाद जी की एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी। अपने हृदय के समस्त स्नेह, आर्जव, ममत्व, कारुण्य, विश्वास, लावण्य आदि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में उसका उपयोग किया है। यही कारण है कि श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने में पूर्णरूप से सफल हुआ। नारी के प्रति कवि के मन में जो सहज श्रद्धा और आदरभाव है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम इस काव्य में श्रद्धा ही है। श्रद्धा का रूप-चित्रण, स्वभाव-वर्णन, भावांकन कवि ने ऐसे उच्च धरातल पर किया है कि वह लौकिक होते हुए भी दिव्य नारी का आभास देने की पूर्ण क्षमता रखता है। श्रद्धा एक ऐसी नारी है जो बाह्य संसार के असत् और क्षणिक कार्यकलाप में लीन होकर अन्तर्जगत् की सात्विक भावनाओं को अधिक महत्त्व देती है। छल, प्रतारणा और मिथ्याचरण से दूर रह कर विश्वास, प्रेम और सत्य के प्रति वह सजग है; जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान् है। एक आदर्श नारी की जो मौलिक कल्पना प्रसाद के अन्तर्मन में व्याप्त थी, मानो श्रद्धा के चित्रण में वही मूर्ति-

मती हुई हो। कदाचित् इसीलिए प्रसाद ने इस काव्य का नाम 'कामायनी' रखा है और नायिका प्रधान काव्य बना दिया है।

मनु की भाँति श्रद्धा का भी ऐतिहासिक अस्तित्व है। उसके ऐतिहासिक महत्त्व की स्थापना के लिए प्रसाद ने कामायनी के आमुख में वैदिक वाङ्मय से कुछ संकेत उपस्थित किये हैं। ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिपद् तथा पुराण आदि में श्रद्धा का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। श्रद्धा को ऋग्वेद में ऋपि और देवता कहा गया है। श्रद्धा के होने पर ही यज्ञादि में हविष्य का विधान बताया गया है। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल को हम श्रद्धानिष्ठ होकर ही उपासना कर सकते हैं। श्रद्धा को कार्य-साधिका तथा फलदात्री बताया गया है। ऋग्वेद में आता है—

'ऋषि श्रद्धा कामायनी। देवता श्रद्धा। श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धा भगस्य मूर्धं निवचसा वेदयामसि।' —ऋग्वेद १०-१५१-१

'प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे दिदासतः, प्रियं भोजेषु यज्व-स्विदं म उदितं कृधि। —ऋग्वेद

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेहनः। —ऋग्वेद

ऋग्वेद में श्रद्धा सूक्त है, जिसमें श्रद्धा का परिचय है। भाष्यकार सायण ने श्रद्धा को कामगोत्र की बालिका कहा है—**'कामगोत्रजा श्रद्धानार्मषिका'**। इसीलिए उसे कामायनी भी कहते हैं। उसी नाम के आधार पर काव्य का नाम कामायनी रखा गया है। श्रद्धा और मनु का पारस्परिक क्या सम्बन्ध था और वैदिक साहित्य में दोनों की स्थिति क्या थी, इसका निर्णय करना कठिन है। प्रसाद ने भी इसका अन्तिम निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया। अपने काव्य के कथानक को गति देने के लिए उन्होंने यथाभिलषित सम्बन्ध की स्थापना कर ली है और उसी का निर्वाह किया है। यों तो तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता है—**'श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि'**—और उसके पिता का नाम सूर्य है—**'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'**। शतपथ में **'श्रद्धादेवो वै मनुः'** कहा गया है। भागवत-पुराण में भी मनु की पत्नी के रूप में श्रद्धा का आख्यान आता है—

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञयामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥"

कामायनी में प्रसाद ने मनु और श्रद्धा के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध की स्थापना इन्हीं प्रमाणों के आधार पर की हुई प्रतीत होती है। उपर्युक्त संकेतों के आधार पर श्रद्धा के ऐतिहासिक अस्तित्व से इनकार करना तो असम्भव है, किन्तु देखना यह है कि काव्य में श्रद्धा का चरित्र क्या केवल इतिवृत्त की स्थूल पृष्ठभूमि पर ही कवि ने अंकित किया है या उसे अपनी कल्पना से रंजित करके संवेदनमय और सप्राण बनाया है।

कामायनी में श्रद्धा का चित्रण कवि ने अधिकांश में अपनी कल्पना के आधार पर किया है। मनु और श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध और उनका काव्य में स्थान प्रदर्शित करते हुए बड़ी काव्यमयी शैली में वासना सर्ग के प्रारम्भ में लिखा है—

"एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार;
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।"

इसके साथ ही श्रद्धा की शारीरिक सम्पत्ति का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने आलंकारिक भाषा में जो लिखा है वह श्रद्धा के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप की बड़ी ही आकर्षक झाँकी उपस्थित करता है।

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
　　　एक लम्बी काया उन्मुक्त;
मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल,
　　　सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
नील परिधान बीच सुकुमार,
　　　खुल रहा मृदुल अधखिला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
　　　मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
नित्य यौवन छवि से ही दीप्त,
　　　विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण,
　　　प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।"

कवि ने श्रद्धा से आत्म-परिचय में जो कथन कराया है वह इतना स्पष्ट और सजीव है कि श्रद्धा की सांस्कृतिक अभिरुचि और कलापूर्ण जीवन के अभि-व्यक्त करने के लिए उससे अच्छी उक्ति सम्भव नहीं। श्रद्धा कहती है—

"भरा था मन में नव उत्साह,
सीख लूँ ललित-कला का ज्ञान ;
इधर रह गन्धर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सन्तान ।"

इसके बाद श्रद्धा ही मनु को जीवन और जगत् का रहस्य बताती हुई कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है। नैराश्य, कुंठा और चिन्ता से विजड़ित मनु को 'काम' की अनिवार्यता समझाने वाली मानवी श्रद्धा ही है। श्रद्धा ही महा-चिति के लीलामय आनन्द का मर्म बताती है और वही संसृति के निर्माण में काम की उपादेयता सिद्ध करती है। मनु को प्रबुद्ध करती हुई श्रद्धा कहती है—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल ;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।
काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग, इच्छा का है परिणाम ;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भव धाम ।"

मनु के एकाकीपन को दूर करने और उसे कर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रद्धा कोरा उपदेश ही नहीं देती वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करके उसकी साधना में सहायक बनती है। मन को अपने बोझ से हल्का बनाती हुई वह सहचरी बनने का प्रस्ताव कर देती है। यह प्रस्ताव अपने साथ जो भाव-सामग्री लेकर आता है वह इतनी प्रचुर और पर्याप्त है कि मनु को उसके आगे नतशिर होना पड़ता है। मनु श्रद्धा को अपने समीप पाकर उसकी मानसिक तृप्ति के अनुरूप भाव-सामग्री नहीं देते ; किन्तु श्रद्धा अपनी ओर से अपना सब कुछ समर्पित करने में कुछ उठा नहीं रखती। यह जानते हुए भी कि नारी अपने समर्पण के बाद ऐसे चिर-बन्धन में आबद्ध हो जाती है जिससे त्राण पाना उसके लिए सहज नहीं, फिर भी वह उन्मुक्त भाव से अपना जीवन उत्सर्ग करने में तत्पर रहती है।

"किन्तु बोली—क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बन्ध नारी हृदय हेतु सदैव !
आह मैं दुर्बल कहो क्या ले सकूँगी दान ?
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्राण ?"

श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में प्रसाद ने नारी के अबलात्व का भी अच्छा आभास दिया है। रूप-सौन्दर्य का सामर्थ्य भी 'अबला' नारी को इतना बल नहीं देता कि वह पुरुष से स्पर्द्धा करके विजय प्राप्त कर सके।

"यह आज समझ तो पाई हूँ,
मैं दुर्बलता में नारी हूँ;
अवयव की सुन्दर कोमलता,
लेकर मैं सबसे हारी हूँ।"

श्रद्धा का चरित्र नारी-जाति के सर्वांगपूर्ण विकास की स्थिति तक पहुँचकर (अनवद्य नारी) (Complete womanhood) का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। लज्जा सर्ग में अमूर्त्त भाव की अभिव्यक्ति करते हुए नारी (श्रद्धा) का जो उद्देश्य वर्णित हुआ है वह काव्य की दृष्टि से भी आदर्श और आस्था की दृष्टि से भी उदात्त और महान् है।

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

पुरुष अपनी स्वार्थ-सीमाओं में रहकर आत्मतुष्टि को ही प्रधानता देने लगता है। सुख को सीमित करके वह अपने को ही आनन्दित देखना चाहता है। मनु की इस प्रकार की मनोदशा 'वासना' और 'कर्म' सर्ग में चित्रित हुई है। व्यक्तिनिष्ठ सुख को समष्टि सुख में पर्यवसित करने की प्रेरणा श्रद्धा के द्वारा ही मनु को प्राप्त होती है। यद्यपि वह अपने दम्भ और अहंकार के कारण उनको चरितार्थ नहीं करता, किन्तु श्रद्धा साहस और विवेकपूर्वक उसे सत्पथ की ओर ले जाने का सक्रिय प्रयत्न करती है। श्रद्धा मनु से कहती है—

"अपने में भर सब कुछ कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ?

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ।"

× × ×

कवि ने श्रद्धा का चित्रण सर्वाङ्गपूर्ण नारी के रूप में किया है, अतः सहज नारी-रूप के साथ उसके सौन्दर्य और आकर्षण को चित्रित करना भी स्वाभाविक था। दाम्पत्य जीवन में नारी का पत्नीत्व या गृहिणीत्व उसके स्वाभाविक गुणों के विकास से परिपूर्णता को प्राप्त होता है। यथार्थ में घर (गृह) की कल्पना का मूल आधार गृहिणी ही है—'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते—।' इस कसौटी पर यदि श्रद्धा के चरित्र की परख करें तो उसे हम भारतीय नारी के आदर्श और उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित देखते हैं। पति-प्रेम और पुत्र-वात्सल्य को पग-पग पर प्रकट करनेवाली श्रद्धा के प्रति पाठक के मन में श्रद्धा-भाव का होना स्वाभाविक है। मनु के ईर्ष्यालु होने और श्रद्धा के प्रति विरक्ति आने पर भी वह अपने गृहस्थ को सब तरह से सुखी बनाने में लीन है।

"दूर थे, पर श्रद्धा ही बाँधे,
देखो यह तो बन गया नीड़ ;
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।"

वात्सल्य की मूर्ति श्रद्धा का चित्र [illegible] है—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत, गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाँहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

नारी-चरित्र की [illegible] —
अपने मातृत्व के [illegible]

परिवार के सीमित दायरे से बाहर भी वह अखिल विश्व का कल्याण करने में प्रवृत्त होती है। कामायनी में श्रद्धा के चरित्र द्वारा नारी की अद्भुत क्षमता को चित्रित किया गया है। विश्व-कल्याण की कामना रखने के कारण ही पशु-बलि और मृगया-परायण मनु को फटकारती हुए श्रद्धा कहती है—

"ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला धरती के।
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके ?
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्ज्वल नव मानवता ;
जिसमें सब कुछ ले लेना ही,
हंत ! बची क्या शवता ?"

श्रद्धा की इस विश्व-कल्याण भावना का विकास इस कोटि तक हुआ कि स्वयं मनु भी उसे साधारण रमणी रूप में न देखकर सर्वमंगला मातृ-रूप में देखते हैं—

बोले, 'रमणी तुम नहीं आह
जिसके मन में हो भरी चाह।'

और आगे कहते हैं—

"तुम देवि आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार।
हे सर्वमंगले तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती।
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा-निलय में ही रहती।
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी-सा ही ! वह लघु विचार।"

यथार्थ में श्रद्धा निश्छल प्रेम, निःस्वार्थ त्याग, अनन्यविश्वास, सहज कारुण्य और अपरिसीम तितिक्षा की प्रतिमा है। वही मनु जैसे पथभ्रष्ट पति को अपने धैर्य और संकल्प से आनन्द मार्ग पर ले जाती है और वही मनु का सच्चा जीवन-

सम्बल बनकर केवल अर्द्धांगिनी नहीं वरन् 'गृहिणी, सचिवः सखी' आदि सभी का प्रतिनिधित्व करती है। इड़ा के साथ भी श्रद्धा का व्यवहार आदर्श है। वह सौतिया डाह से जलकर न तो अपना आपा खोती है और न इड़ा को ही अपने मन में किसी प्रकार से गलत भाव-विचार को आश्रय देने का अवकाश देती है। हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजनेवाली श्रद्धा सभी क्षेत्रों और सभी रूपों में आदर्श बनी रहती है। पारलौकिक दृष्टि से भी श्रद्धा का दृष्टिकोण बहुत ही दार्शनिक, बौद्धिक और तर्क-सम्मत है। वह जगत् का रहस्य और इसके निर्माण में स्रष्टा का प्रयोजन शुद्ध दार्शनिक के रूप में देखती है और इड़ा तथा मनु को इस रहस्य का बोध कराती है—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
वह रूप बदलता है शत-शत ;
कण विरह मिलन में नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।"

संक्षेप में, श्रद्धा का चरित्र नारी-जीवन की सर्वांगपूर्ण झाँकी देनेवाला एक आदर्श चरित्र है। कामायनी के अप्रस्तुत पक्ष में हृदय का सच्चा प्रतिनिधित्व करने की उसमें पूर्ण क्षमता है। विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति रूप श्रद्धा का जैसा विकास कामायनी में हुआ है प्रसाद के किसी अन्य नारी-चरित्र में नहीं हुआ। 'श्रद्धा हृदस्य याकूत्या, श्रद्धा विन्दते वसु' का तात्विक दृष्टि से जो अर्थ होता है वही श्रद्धा का चरित्र है और काव्य में इसी कारण उसका सर्वाधिक प्रभाव हैं। घटनाओं का घात-प्रतिघात क्षीण होने पर भी श्रद्धा के चरित्र द्वारा हम आदिम नारी का रूप हृदयंगम कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा की पंक्तियाँ उद्धृत करना हम आवश्यक समझते हैं—

"मनु के उद्दाम अन्तर्द्वन्द्व, श्रद्धा के प्रशान्त निष्कम्प आत्म-विश्वास के दो तटों के बीच से पथ बनाते हुए कथा-प्रवाह के रंगों के इतने आवर्त्त और रूपों की इतनी तरंगें उठती रहती हैं कि हमें परिचित घटनाओं के अभाव का बोध नहीं रहता।

हमारे सामने जो क्षितिज है, वह किसी लोक-विश्रुत या अलौकिक चरित्र की दिग्विजय-यात्रा नहीं चित्रित करता, प्रत्युत उसके सब हल्के-गहरे रंग, सारी

लघु-दीर्घ रेखायें दो व्यक्तियों को स्पष्ट करती हैं और ये दो व्यक्तित्व हैं—आदिम पुरुष और आदिम नारी। अतः उनमें अलौकिकता से अधिक उन प्रवृत्तियों का महत्त्व है जिनसे लोक का निर्माण सम्भव हो सका। इस दृष्टि से उनकी यह चारित्रिक विशेषताएँ आज भी हमारी हैं।"

इड़ा

मनु और श्रद्धा के समान इड़ा का व्यक्तित्व भी दुहरा है। रूपक-शैली से सांकेतिक अर्थ का द्योतन करती हुई वह बुद्धि तत्त्व की प्रतीक है। कामायनी के आमुख में प्रसाद जी ने उसके ऐतिहासिक अस्तित्व का परिचय देने के लिए ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण तथा अमरकोष के जो संकेत दिये हैं उनका उपयोग इड़ा के चरित्र-विकास में उन्होंने नहीं किया। वे संकेत केवल इड़ा के अस्तित्व का इतिहास से सम्बन्धमात्र जोड़ते हैं; इसके सिवा उनकी और कोई उपयोगिता नहीं है। शतपथब्राह्मण में इड़ा को मनु के यज्ञान्न से पली दुहिता कहा गया है किन्तु कामायनी में ऐसा कोई उल्लेख नहीं। सांकेतिक अर्थ में जहाँ इड़ा को बुद्धिवाद का प्रतीक बताया गया है उसका वैदिक आधार यह हो सकता है कि ऋग्वेद में इड़ा को सरस्वती आदि के समान ही बुद्धि को साधने वाली अथवा चेतना देने वाली कहा गया है। **'सरस्वती साधयन्तीधियं न इड़ा देवी, भारती विश्वतूर्ति।'** पुरुवरा और उर्वशी की कथा के साथ प्रथम आयु विश्पति तथा मनुष्य की शासयित्री इड़ा को जोड़ा मानकर भी कुछ विद्वानों ने कथा की मूल वैदिक साहित्य की परम्परा में बिठाई है (देखिये—कामायनी सौंदर्य; पृष्ठ १५९-१६०)। ऋग्वेद में इड़ा सूक्त का उल्लेख करके भी ऐतिहासिक स्वरूप का विवेचन होता है किन्तु प्रसाद ने इन समस्त रूपों को अपने अन्तर्मन की पृष्ठभूमि में रखकर सर्वथा नवीन रूप से इड़ा का चरित्र-चित्रण किया है।

कामायनी के कथानक में इड़ा का स्थान एक स्वार्थपरायण, बुद्धिवादी, व्यवहार-कुशल नारी का है जो अपने रूप के मोहक आकर्षण का जाल बिछाकर मनु को उसमें फँसाती है। कवि ने श्रद्धा और इड़ा के व्यक्तित्व के वैषम्य और वैभिन्न्य का चित्रण करके दोनों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं उपादेयता को बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अंकित किया है। इड़ा के सांकेतिक—प्रतीकात्मक—

रूप को स्पष्ट करने के लिए कवि ने इड़ा सर्ग में उसका आलंकारिक शैली से जो सांगोपाङ्ग वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।"
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन-रस सार लिये।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल॥
चरणों में थी गति भरी ताल॥"

नख-शिख का आभास देने वाली उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने इड़ा के बाह्य शरीर की सुषमा चित्रित करते हुए उसकी आभ्यन्तर गतिविधि का भी अच्छा परिचय दे दिया है। अलकों को तर्क-जाल से उपमा देने में कवि का प्रयोजन स्पष्ट है, तर्क-वितर्क को बौद्धिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की आधार-शिला समझना चाहिए। नेत्रों में अनुराग-विराग, वक्षस्थल में ज्ञान-विज्ञान, हाथ में कर्म-कलश, त्रिगुण तरंगमयी त्रिवली आदि सभी उपमाएँ उसके व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों की ओर संकेत करती है।

आगे चलकर प्रसाद ने इड़ा को एक स्थल पर 'प्रतिभा-प्रसन्न मुख' कहा है। उसका तात्पर्य भी यही है कि बौद्धिक प्रतिभा ही इड़ा की सम्पत्ति है। उसी के सहारे वह प्रफुल्लित रहती हुई जीवन यापन करती है। बुद्धि के आश्रित कर्म-व्यापार में लीन इड़ा हृदय की स्निग्ध एवं सरस विभूतियों से विहीन व्यवसायात्मिका तर्कमयी प्रज्ञा द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखंडता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की सृष्टि करने में लीन रहती है—

"यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे सृष्टि,
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि।

कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़ें भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हां मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता।
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता।
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।
दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि।"

ऊपर की पंक्तियों में (इड़ा) व्यवसायात्मिका बुद्धि का कृतित्व भली भांति स्पष्ट हो जाता है। द्वयता में लीन रहकर नाना वर्गों और वर्णों की सृष्टि करना बुद्धि का पहला काम है। उसके बाद वर्ग-संघर्ष का तुमुल कोलाहल उत्पन्न करके विविध कोटि की समस्याएँ खड़ी कर देना और उसमें मानव को उलझा देना बुद्धि का दूसरा काम है। परिणाम यह होता है कि शाश्वत सुख-शांति जो मानव की अभिलषित वस्तु है मनुष्य से दूर बनी रहती है और उसे अनिच्छित दुःख झेलने पड़ते हैं। समवेदना, सहानुभूति और पारस्परिकता की भावना नष्ट हो जाती है और मानव-समाज गिरता-पड़ता चलता है। इड़ा का अस्तित्व इसी बुद्धिवाद का प्रतीक है और यही इसकी सांकेतिक स्थिति है।

ऐतिहासिक कथानक की दृष्टि से इड़ा सारस्वत प्रदेश की रानी है। देवताओं की स्वसा (बहन) के रूप में भी उसका वर्णन है। इड़ा का वर्णन शतपथब्राह्मण में है और उसमें कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई। उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने विस्मय-विमुग्ध हो प्रश्न किया, 'तुम कौन हो ?' इड़ा ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'तुम्हारी दुहिता'। मनु बोला, 'दुहिता कैसे ?' इड़ा बोली, 'तुम्हारे यज्ञ की हवियों से मेरा पोषण हुआ है।' इस प्रसंग को इतिवृत्त का क्षीण तन्तु ही कहा जा सकता है, सम्पूर्ण इतिहास नहीं। किन्तु इड़ा के प्रति मनु के आकर्षण का इसमें आगे चलकर उल्लेख किया गया है। ऋग्वेद में इड़ा को बुद्धि और वाणी का पर्यायवाची कहा गया है और मानव-जाति की नियामिका या शासनकर्त्री भी बताया है।

कामायनी में इड़ा को एक व्यक्तिवादी स्त्री के रूप में अंकित किया गया है, उसका अहं प्रबुद्ध है। वह अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र रखती हुई समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। प्रथम परिचय में जब मनु ने इड़ा की काम-भावना को उद्बुद्ध करने की इच्छा से कहा कि—

"मनु मेरा नाम, सुनो मैं विश्वपथिक सह रहा क्लेश।"
तब भावना-विहीन पर विचार-वितर्क प्रवीण इड़ा को मनु के क्लेश के प्रति समवेदना उत्पन्न नहीं हुई, प्रत्युत उन्हीं क्षणों में उसे अपने सारस्वत प्रदेश का स्मरण हो आया और उसके निर्माण की बात वह सोचती रही और बड़े व्यावसायिक रूप में बोली—

"स्वागत! पर देख रहे हो तुम, उजड़ा सारस्वत प्रदेश।"

यथार्थ में इड़ा का साध्य है सारस्वत नगर का निर्माण और इसके लिए वह मनु को एक इंजीनियर—शिल्पी के समान साधन बनाती है। इस दृष्टि से वह मनु के लिए प्रबल प्रेरणामयी है। वह मनु को कर्म करने की प्रेरणा देती है, किन्तु इस कर्म-प्रेरणा का फल मनु को स्वयं कुछ न मिलकर इड़ा को प्राप्त होता है। अपने हित-साधन के लिए मनु को नियुक्त करने की बौद्धिकता ही उसकी सफलता है। अपनी कार्य-सिद्धि के लिए मनु पर विजय प्राप्त करने के निमित्त उसके पास दो गुण हैं। शारीरिक रूप-सौन्दर्य को निखारकर मनु के सामने वह इस ढंग से रखती है कि उसका अचूक प्रभाव मनु पर पड़ता है और वे नारी-सौंदर्य के पाश में आबद्ध हो जाते हैं। दूसरा उसका गुण है बुद्धि-प्रकर्ष। मनु की आस्तिक भावना और नियति-विश्वास को उन्मूलित करने में वह अपने तर्क-वितर्क का प्रयोग करती है। ईश्वर को निष्ठुर और नैराश्यपूर्ण सृष्टि का अधिपति आदि कहकर मनु के ईश्वर-विश्वास को हिला देना उसका साध्य है। वह नहीं चाहती कि जब तक मनु उसके कार्य में लीन रहें तब तक किसी अन्य भाव या विचार को अपने मन में स्थान दें। ईश्वर के प्रति अनास्था बुद्धि पैदा करती और अपनी शक्ति पर विश्वास करने का हौसला जगाती हुई कहती है—

"मत कर पुकार निज पैरों चल।"

मनु भी इड़ा के इस प्रबल बुद्धिवाद से अभिभूत हो गये और कह उठे—
"हां तुम्हीं हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी वह शरण जाय।"

इन पंक्तियों में मनु पर इड़ा का प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। हम देखते हैं कि अपने प्रखर-बुद्धि-बल से वह सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को बाह्य रूप से आकृष्ट करने में पूर्ण रूप से समर्थ है, किन्तु उसका सम्पर्क अन्तर्मन को परितृप्त करने

की क्षमता नहीं रखता। वस्तुतः इड़ा एकान्त बौद्धिक चरित्र (Intellectual character) है। वह मनु का उपयोग भी भौतिक दृष्टि से (Objectively) करती है परन्तु मानसिक सुख-शान्ति प्रदान करने की शक्ति उसमें नहीं। राग-द्वेष के वृत्त से वह अपने को बड़ी सतर्कता से बाहर रखती है। रागात्मक भावनाओं का स्पन्दन स्त्री-पुरुषों में सहज स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी वह 'यौवन के मधुमत स्रोत से आप्लावित' मनु की ओर वासना-वृद्धि से आकृष्ट नहीं होती, यही उसकी राग-निरपेक्षता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि वह अपने अंतर के राग द्वेष पर बौद्धिकता (Rationalism) द्वारा विजय प्राप्त कर लेती है।

मनु के प्रति उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण होते हुए भी प्रजा के प्रति उसकी कर्त्तव्यपरायणता का निषेध नहीं किया जा सकता। मनु के प्रति आकृष्ट न होने का एक कारण यह भी है कि वह लोक-धर्म तथा लोक-मर्यादा के प्रति पूर्णतः सजग है। यही कारण है कि मनु के द्वारा आलिङ्गन-पाश में बद्ध होने पर भी वह वज्र-संयम और अडिग धैर्य का परिचय देते हुए मनु से कहती है—

"ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें,
लोक दुःखी हो आश्रय ले यदि इस छाया में,
प्राण सदृश ही रमो राष्ट्र की इस काया में।"

इड़ा के चरित्र में बाद में कुछ परिवर्तन आता है। प्रारम्भ में वह अत्यधिक शक्तिशाली, गतिशील (Dynamic) है। पर्वत की उत्तुंग शैलों से गिरने वाले झरने के समान प्रबल, तीव्र और कलकलनादयुक्त। बाद में वह समतल भूमि पर बहने वाली स्रोतस्विनी के समान शान्त-स्निग्ध हो जाती है। बुद्धिवाद का प्रभाव न्यून होकर हार्दिकता की मात्रा अधिक हो जाती है। इस परिवर्तन के दो कारण सम्भव हैं। प्रथम कारण यह हो सकता है कि श्रद्धा के उदार, ममत्वपूर्ण एवं संवेदनशील चरित्र ने उस पर अपना प्रभाव डाला हो, उसकी रागात्मिका वृत्ति ने इड़ा का परिष्कार किया हो। हमारे इस कथन की पुष्टि इड़ा के द्वारा श्रद्धा से कही गई निम्न पंक्तियां हैं—

"हे देवि तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय उद्गम अविरल।

आकर्षण घन-सा वितरे जल,
निर्वासित हो सन्ताप सकल।
कह रहा प्रणत ले चरण धूल,
पकड़ा कुमार का मृदुल फूल।"

यहां इड़ा के हृदय-पुष्प में बुद्धि की धूल नहीं, बल्कि प्रेम का पराग है। उसका हृदय भावनामय—अनुरागरंजित—हो उठा है। परन्तु श्रद्धा के इस प्रभाव को हम केवल बाह्य प्रभाव ही कह सकते हैं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उसके अन्तर का विवेक सांसारिक संघर्षों के उद्वेलन से स्वयं ही जाग्रत एवं प्रबुद्ध हो गया हो और फलत: उसका व्यक्तित्व भी उससे परिवर्तित हो गया। उसने यह अनुभव किया कि एकान्त बौद्धिकता का मनु पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा। मनु ने इड़ा के सम्पर्क से गृहीत प्रभाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"सब बाहर होता जाता है,
स्वगत उसे मैं कर न सका;
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।"

इन पंक्तियों में मनु अस्वस्थ, भ्रान्त और क्लान्त हैं। इड़ा का सम्पर्क उसे शांत और स्वस्थ करने में सहायक नहीं हुआ। मनु और इड़ा की वृत्तियों का प्रकृत वैषम्य ही दोनों में भेद बनाए रहा। मनु के चरित्र के मूल में स्वार्थ और काम है; इड़ा के चरित्र में स्वार्थ और बौद्धिकता। दोनों की मूल वृत्तियाँ ही उन्हें मिलने देने में बाधक हैं। इड़ा आँसू के भीगे अंचल पर स्मित रेखा से सन्धि पत्र लिखने में तथा किसी के प्रति समर्पित होने में सर्वथा असमर्थ है। अपने स्वार्थ साधन के लिए आदान ही उसने सीखा है, प्रदान करने में उसका विश्वास नहीं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसाद ने इड़ा के चरित्र-चित्रण में आधुनिक युग की बौद्धिक क्षमता से युक्त एक ऐसी सबल नारी का व्यक्तित्व खड़ा किया है जो आज के वैज्ञानिक युग की समस्त शक्तिमत्ता और दुर्बलता का एक साथ पूरा-पूरा आभास देने में समर्थ है। अनियन्त्रित बुद्धिवाद की पराजय तथा श्रद्धा-समन्वित बुद्धि की सफलता रूपक द्वारा, इड़ा के चित्रण से व्यक्त की गई है। आधुनिक युग की अन्य विभीषिकाओं को भी इड़ा के चरित्र में समाविष्ट करके कवि ने इड़ा को एक प्राणवान शक्तिशाली, और गतिशील चरित्र बना दिया

है। कथा की दृष्टि से स्त्रीत्व का कल्याणकारी स्वरूप उसके चरित्र में कहीं-कहीं प्रस्फुटित हुआ किन्तु उसका पूर्ण विकास सम्भव नहीं था अतः वह नारी जाति का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री नहीं कही जा सकती। महाकाव्य में एक ऐसी नारी का होना नितान्त आवश्यक था जो प्रेम में प्रवंचना और स्वार्थ साधन में तत्पर रहकर पुरुष से सम्पर्क स्थापित करे। आधुनिक युग की नारी जिसे 'अल्ट्रा-माडर्न' कहते हैं और जो अपनी बौद्धिक पूर्णता के साथ पुरुष के साथ रहकर छलना करती है इड़ा के व्यक्तित्व में कुछ-कुछ देखी जा सकती है। वस्तुतः इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है। भौतिक शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर को प्रेरणा देकर वह ऐसे स्थल पर ले जाती है जहाँ पहुँचकर वह बुद्धिवाद की विडम्बना को समझ सकता है। इड़ा का चित्रण काव्य कला की दृष्टि से सफल और पूर्ण है। उसमें वैज्ञानिक युग की दर्पोन्मत्त नारी का चरित्र बहुत ही सफलता से प्रतिफलित हो उठा है।

कामायनी का महाकाव्यत्व

काव्य साहित्य की सब से व्यापक और विशद विधा है। कवि की का चरमोत्कर्ष महाकाव्य में प्रतिफलित होता है। प्रसाद जी ने मुक्तक रचना से प्रारम्भ करके अपनी काव्य-साधना को कामायनी में महाकाव्य तक पहुँचाया था। कामायनी के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु शास्त्र-तुला को यदि सामने रखकर निर्णय किया जाय तो कामायनी को महाकाव्य मानना ही पड़ता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'एपिक' की जो परिभाषा की गई है और जिन अनुबंधों का 'एपिक' पर अनिवार्य रूप से आरोप किया गया है, उनको दृष्टि में रखकर हम कामायनी को महाकाव्य ही समझते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की महाकाव्यविषयक परिभाषाओं में वाह्यरूप के सम्बन्ध में भेद होने पर भी महाकाव्य के प्राण—अर्थात् विधायक मूलतत्त्वों में गहरा भेद नहीं है। अतः दोनों देशों की शास्त्र-परम्परा तथा काव्य-परम्परा को ध्यान में रखते हुए हम कामायनी के महाकाव्यत्व की परीक्षा करेंगे।

भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र-प्रणेता आचार्यों में दंडी एवं विश्वनाथ

महापात्र ने महाकाव्य सम्बन्धी नियमों का सविस्तार वर्णन किया है। इन नियमों में मौलिक तत्त्वों का विधान भी है और सामान्य बाह्य तत्त्व भी वर्णित हुए हैं। अनिवार्य तत्त्वों का समीकरण हम तीन तत्त्वों में कर सकते हैं—वे हैं—नेता (नायक), रस (अभिव्यंग्य वस्तु) और कथावस्तु। इन्हीं तीन प्रमुख तत्त्वों को पाँच तत्त्वों में विभाजित करके महाकाव्य का शास्त्रीय अध्ययन होता है। वे पाँच तत्त्व हैं कथानक, पात्र (चरित्र), रस, उद्देश्य (फलागम), और शैली। भारतीय काव्यशास्त्र में कथानक को नाटक के समान ही प्रसिद्ध अर्थात् ख्यात-वृत्त होना चाहिए। लोक-प्रसिद्ध या इतिहास-प्रसिद्ध प्रामाणिक कथानक के अतिरिक्त सामान्य या अप्रसिद्ध कथानक का ग्रहण महाकाव्य के अभिधान में बाधक समझा जाता है। पौराणिक, लोकप्रसिद्ध कथानक ही ख्यातवृत्त की परिधि में आते हैं अतः कल्पित या साधारण लौकिक व्यक्ति का ग्रहण नहीं होता। कामायनी के कथानक पर विचार करने से स्पष्ट है कि वह मूल रूप में पौराणिक—ऐतिहासिक है। शतपथब्राह्मण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन ग्रंथों से लेखक ने कथा के अवयव संकलित किये हैं अतः प्राचीन काव्यशास्त्र की यह शर्त तो कामायनी पर खरी उतरती है। दूसरी बात कथा के सद्वृत्त होने की है। मानव-जीवन की श्लाघ्य भावना से ओत-प्रोत उदात्त चरित्र ही उसमें होने अनिवार्य हैं। कथानक को पढ़कर पाठक के मन में सद्भाव स्फुरित हों और वह कल्याण-पथ की ओर उन्मुख हो सके। कामायनी की कथा का प्रभाव आनन्द की ही प्राप्ति होता है और पाठक अभ्युदय तथा निश्रेयस पथ का पथिक बनता है। सद्वृत्ति का दूसरा प्रभाव यह भी मानना चाहिए कि जीवन के असत् या अनैतिक मूल्यों के प्रति पाठक का आकर्षण न रहे। पाठक नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान बने और सन्मार्ग को ग्रहण कर सके। कामायनी का नायक मनु प्रारम्भ में अनीति परायण है किन्तु उसे संघर्ष के बाद जीवन के नैतिक मूल्यों का बोध हो जाता है, फलतः वह अनीति और अन्याय से विमुख होकर आनन्द प्राप्ति के लिए समरसता की उदात्त भूमि पर अपने को ले जाता है। मनु का वैयक्तिक अहंकार उसकी असद्वृत्ति का परिचायक है किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी भूल का ज्ञान होता है और वह उसका परिमार्जन करके सन्मार्ग—आनन्द मार्ग—की ओर चल पड़ता है।

कथा में रोचकता लाने के लिए वैविध्य का होना आवश्यक है। वैविध्य

के लिए विस्तार अपेक्षित है। मानव-जीवन से सम्बद्ध सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक पक्षों का तथा जीवन के उत्थान-पतन के विविध रूपों का वर्णन अनिवार्य है। सर्वांगपूर्ण जीवन महाकाव्य की पहली शर्त समझनी चाहिए। जो महाकाव्य जीवन और जगत् को जितने अधिक व्यापक विस्तार से समेट सकेगा, वह सफलता के चरम बिन्दु के उतने समीप पहुँचने का गर्व कर सकेगा। इस कसौटी पर कामायनी के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ समीक्षकों का मत है कि कामायनी में जीवन का जागतिक आचार, व्यवहार, द्वन्द्व और संघर्ष वाह्य दृष्टि से न्यून मात्रा में अंकित हुआ है। हाँ, आभ्यन्तर संघर्ष और मानव की चित्तवृत्तियों का उस में सर्वांगपूर्ण चित्र है। दूसरे आलोचक यह कहते हैं कि कामायनी में प्रसाद जी ने पात्रों की भीड़-भाड़ न करके तीन पात्रों द्वारा ही मानव-जाति के सामूहिक जीवन के आविर्भाव, विकास और प्रगति की कथा प्रस्तुत की है। सांकेतिक रूपक द्वारा कथानक का व्यापक फलक उन्होंने तैयार किया है। अतः अन्तःसंघर्ष के कारण वह व्यापक और विशद है।

गरिमामयी कथा के महत्त्व के लिए यह भी आवश्यक माना जाता है कि उसकी घटनाएँ महान्, व्यापक, उदात्त और विराट् होनी चाहिएँ। घटनाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक ध्वंसात्मक और दूसरी रचनात्मक। ध्वंसात्मक घटनाओं का प्रभाव परिवर्तन की दृष्टि से महान् होता है। कामायनी में ध्वंस के लिए जल-प्लावन द्वारा उत्पन्न प्रलय की घटना को उपस्थित किया गया है। समस्त सृष्टि का विलय और देव-सृष्टि का विनाश कामायनी की एक ऐसी ध्वंसमयी घटना है जो मानव-जाति के उद्भव और विकास के लिए उचित अवसर और मार्ग का उन्मेष करती है। कथा पौराणिक है किन्तु प्रभाव की दृष्टि से वह सामयिक ही समझी जायगी। इसी घटना का दूसरा पहलू रचनात्मक है। देव-सृष्टि के ध्वंस के बाद मनु शेष रहते हैं और मानव सृष्टि का विकास करके नवीन जाति की परम्परा स्थापित करते हैं। यह रचना मनु या मानव के व्याज से समस्त मानव-जाति के क्रमिक विकास को हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देती है। कथानक के माध्यम से सारस्वत प्रदेश का ध्वंस और उसके बाद मनु की समरसता के साथ आनन्द मार्ग का ग्रहण भी ध्वंस और रचना के रूप में क्रमशः कामायनी में देखे जा सकते हैं जो कामायनी को महाकाव्य सिद्ध करने वाले हैं।

कामायनी के कथानक में ध्वंस और निर्माण की विपुल सम्भावनाओं को मानने वाले कुछ आलोचकों का विचार है कि प्रसाद जी ने इस कथानक के अन्तराल में निहित महान् सम्भावनाओं से लाभ नहीं उठाया। वे चिन्ता सर्ग और संघर्ष सर्ग में ध्वंस तथा निर्माण का संकेत मात्र ही देकर आगे बढ़ गये हैं। रामायण और महाभारत के समान विनाश और निर्माण के लिए विराट् कथावस्तु की अवतारणा प्रसाद जी ने नहीं की। संसार में जैसा भयानक ध्वंस युद्ध और संघर्ष से उत्पन्न होता है, वैसा कामायनी में नहीं है। हाँ एक व्यक्ति के जीवन में अर्थात् पिंड में जो संघर्षद्वन्द्व सम्भव है वही कामायनी में प्रतिफलित हुआ है; ब्रह्मांड का ध्वंस और संघर्ष नहीं है। बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटनाओं को भी कवि ने अन्तरिक रूप दे दिया है। प्रलय बाह्य जगत् में हो रहा है। किन्तु मनु का मन भी आन्तरिक रूप से विक्षुब्ध-बेचैन हो उठा है। मनु का मन नैराश्य और कुंठा से भर जाता है। काम की प्रेरणा होती है, अहंकार जाग्रत होता है, मनु उसका अन्त में दमन करते हैं, आत्म-ग्लानि होती है, और अन्त में अपने समस्त अहंकार को वे आनन्द की स्थिति में पहुँचने पर उन्नयन करने में लग जाते हैं। ये सब घटनाएँ ध्वंस और निर्माण की दृष्टि से बाह्य जगत् की स्थूल घटनाएँ न होकर आन्तरिक जगत् की सूक्ष्म घटनाएँ हैं जो काव्य को अन्तर्मुखी बना देती हैं।

कामायनी की कथावस्तु के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने की है कि उसमें महाकाव्य की दृष्टि से अनेक दोष हैं। कथानक विपुल सम्भावनाओं से युक्त होने के कारण पाठक की कल्पना को जग्रात करने में समर्थ था किन्तु उन समस्त सम्भावनाओं का न तो निर्वाह हुआ और न घटनाओं का समुचित विकास ही हुआ। वर्णन कि दृष्टि से भी वैविध्य नहीं है। प्रकृति के विविध रूप चित्रित करने में तो कवि सफल हुआ है किन्तु सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक समस्याओं के व्यापक चित्र कामायनी में नहीं हैं। वृत्तियों के विश्लेषण में ही कवि रमकर रह गया है। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि कामायनी जिस युग का प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य है उस युग में समाज और देश की समस्याओं का ऐसा विकास नहीं हुआ था। घटनाओं में विविधता के अभाव का भी यही कारण हो सकता है। युग की परिसीमाओं में आबद्ध महाकाव्य में यह त्रुटि क्षम्य ही समझी जायगी।

घटनाओं का संघर्ष संकुल होना भी महाकाव्य की शर्त है किन्तु कामायनी में बाह्य जगत् में घटनाएँ नहीं घटित होतीं। सारस्वत प्रदेश के गृहयुद्ध के अतिरिक्त और कोई बड़ा संघर्ष कामायनी में नहीं है। हाँ, आन्तरिक संघर्षों से यह काव्य भरा पड़ा है। मानस-संघर्ष प्रसाद जी की विशेषता है। उनके नाटकों में भी मानस-द्वन्द्व के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

महाकाव्य का दूसरा तत्त्व है पात्र या चरित्र-चित्रण। जैसी कथा और घटनाएँ होंगी वैसे चरित्रों की अवतारणा आवश्यक होती है। भारतीय मान्यता में धीरोदात्त नायक को असाधारण होना आवश्यक है। यह असाधारणता व्यक्ति के अलौकिकत्व में भी उसके चारित्रिक गुणों में होती है। असाधारण शब्द का प्रयोग इसी विशिष्ट अर्थ में किया गया है। मनु के सम्बन्ध में असाधारणत्व धर्म की विवेचना करते हुए यह कहा जाता है कि प्रसाद जी ने उसे उच्च स्थान नहीं दिया। वे मनु की अवतारणा करने के बाद उसके उदात्त गुणों की रचना नहीं कर सके। सम्भवतः मानव की दुर्बलताओं का आभास देने के लिए उन्होंने मनु को असाधारण न रखा हो। कामायनी के पात्रों के चरित्र-चित्रण में हमने मनु की सबलता और दुर्बलताओं का विशद वर्णन किया है। हाँ, श्रद्धा के चरित्र को प्रसाद जी ने महाकाव्य के लिए सर्वांगपूर्ण चित्रित किया है। श्रद्धा में असीम शक्ति-सामार्थ्य दिखाते हुए उसके आत्म-समर्पण को जिस भूमि पर कवि ने स्थित किया है वह किसी भी महाकाव्य की नायिका के सर्वथा उचित है। रूपक की शैली में श्रद्धा हृदय पक्ष को प्रस्तुत करने वाली वृत्ति है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से श्रद्धा का स्थान नारी का है जो समर्पण के द्वारा पुरुष को सन्मार्ग पर आरूढ़ करती है। प्रसाद जी ने इस महाकाव्य को नायिकाप्रधान बना दिया है क्योंकि मनु का चरित्र श्रद्धा के आगे निष्प्रभ प्रतीत होता है। चरित्रों की दृष्टि से इस महाकाव्य को हम सफल महाकाव्य समझते हैं।

रस की दृष्टि से कामायनी में महाकाव्य के लक्षणों का अनुसंधान करना भी आवश्यक है। काव्यशास्त्रीय परिपाटी में पहले शृंगार रस को प्रधानता दी गई थी, बाद में शान्त, करुण और वीर को भी महाकाव्य के अनुकूल मान लिया गया। शृंगार रस के प्रधान होने का कारण तो स्पष्ट है—सृष्टि में और रति-प्रेम भाव का प्राधान्य होने से शृंगार को प्रधानता मिलना उचित ही है।

कामायनी में शृंगार और शान्त दोनों रसों का सम्मिश्रण है। वीर रस और हास्य-रस के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। शान्त रस को यदि प्रधान माना जाय तो कामायनी का स्थायी भाव निर्वेद होना चाहिए। निर्वेद का वर्णन कवि ने अन्तिम सर्गों में किया भी है किन्तु कुछ विद्वान् शान्त रस को कामायनी में प्रधान नहीं मानते। उनका कहना है कि आनन्दवाद को स्वीकार करने वाले प्रसाद जी की दृष्टि योग-साधना जन्य शान्त रस में समाप्त नहीं हो सकती। यदि उन्हें यही अभीष्ट होता तो आशा, श्रद्धा, काम, लज्जा, कर्म आदि सर्गों में वे मनु और श्रद्धा के प्रेम का व्यापक वर्णन क्यों करते। उनके मन में आनन्द की स्थापना का भाव था अतः कामायनी में उन्होंने अंगी रस के रूप में अखण्ड आनन्द को ही स्थान दिया है। इस आनन्द रस की एक सीमा शान्त रस है तो दूसरी सीमा शृंगार। जीवन में शान्त और शृंगार का भले ही विरोध प्रतीत हो किन्तु रस के पारावार में ये दोनों इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि इनका भेद नहीं रहता। प्रश्न यह है कि क्या अखण्ड आनन्द रस को स्वीकार करना शास्त्रीय दृष्टि से संगत होगा। उत्तर स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में ऐसा कोई रस नहीं माना गया। शान्त रस का उदात्त रूप ही यह मानना चाहिए। भक्ति रस के समान इस रस की भी सत्ता बनानी होगी। दर्शनशास्त्र में आनन्द का स्थान है, भक्ति में दर्शन का योग रहता है अतः कामायनी के रस में साहित्यशास्त्र तो शान्त रस की ही स्वीकृति देगा किन्तु दर्शन भूमि पर आनन्द रस का भी व्यवहार हो सकता है।

उद्देश्य की दृष्टि से विचार करने पर कामायनी का ध्येय बहुत स्पष्ट है। साधारणतः चतुर्वर्ग फल प्राप्ति 'धर्मार्थ काम मोक्ष' ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। कामायनी में चतुर्वर्ग शब्द का साक्षात् प्रयोग न होने पर भी मौलिक अन्तर नहीं है। कामायनीकार ने मनोमय कोष में स्थित जीव को आनन्दमय कोष तक पहुँचाने का जैसा मार्ग विवृत किया है, वह धर्मार्थ काम मोक्ष की ही सरणि है। जीव को आनन्द स्थिति में पहुँचाना ही कामायनी का उद्देश्य है, अतः महदुद्देश्य की दृष्टि से कामायनी एक सफल महाकाव्य माना जायगा। ऐतिहासिक कथानक को स्वीकार करते हुए भी उसे रूपक के धरातल पर चिरन्तन तथा सार्वदेशिक बनाया गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय करके कवि ने एक महान् उद्देश्य को पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है जो

किसी भी शाश्वत कृति का साध्य हो सकता है। सभ्यता-संस्कृति, विज्ञान, अर्थनीति, राजनीति सब का तात्त्विक दृष्टि से इस काव्य में समन्वय करके इसके महाकाव्यत्व को सर्वतोभावेन सार्थक बना दिया है। एक युग तक ही यह काव्य सीमित नहीं रह गया है। युग-युग की नाड़ी टटोलकर उसमें प्राण संचार किया गया है।

शैली की दृष्टि से कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना होगा कि प्रसाद जी छायावादी युग में प्रमुख कवि के रूप अवतरित हुए थे। कामायनी उनका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है अतः इस काव्य की शैली उदात्त और असाधारण है। अरस्तू ने महाकाव्य की भाषा-शैली को असाधारण वैभवसम्पन्न स्वीकार किया है। कामायनी की भाषा-शैली कहीं भी सामान्य स्तर पर नहीं उतरती। कहीं-कहीं तो असाधारणता दोष की सीमा तक ही पहुँची है। कामायनी की भाषा अत्यन्त समृद्ध, साहित्यिक, तत्सम प्रधान तथा लाक्षणिक है। कहीं-कहीं आर्ष शब्दों का भी प्रयोग मिल जाता है। शैव दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली के कारण कामायनी की भाषा साधारण पाठक की पहुँच के बाहर भी हो गई है। कहीं-कहीं प्रसाद जी ने तंत्र और आगमों की पंक्तियों का अनुवाद सा कर दिया है। यह तभी विदित होता है जब उन शैवागमों का पारायण किया जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनेक शब्द कामायनी में बिखरे पड़े हैं। प्रसाद जी लक्षणा और व्यंजना के कवि हैं। अभिधा द्वारा अर्थ व्यक्त करना उन्हें अभीष्ट नहीं। शब्द सम्पत्ति समृद्ध होने के कारण अभिव्यक्ति अलंकृत और काव्य शिल्प से दीप्तिमयी हो गई है। कल्पना की उड़ान और भावना की अतिरंजना से परिपूर्ण कामायनी की शैली महाकाव्य की गरिमामय उदात्त शैली है। अलंकृत महाकाव्यों में कम शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की प्रवृत्ति प्रधान होती है। कामायनी में भावनाओं की तरलता, व्यापकता और गंभीरता इतनी अधिक है कि उसका [illegible] अतिरंजित सा मालूम होने लगता है। शैली में ध्वंसात्मकता और गाम्भीर्य के यदि उदाहरण एकत्र किये जायें तो छायावादी काव्य में सबसे अधिक इसी ग्रन्थ में मिलेंगे। शैली द्वारा प्रभावान्विति और रस संचार भी कामायनी में सर्वत्र है अतः शैली की दृष्टि से यह एक सफल महाकाव्य है। शैलीगत दोष की चर्चा करना यदि अनिवार्य ही माना जाय तो यह कहना पर्याप्त होगा कि अतिशय [illegible] भावना,

कल्पना और दार्शनिकता के कारण सहज अभिव्यक्तियों का अभाव होने से कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गई है। भावोच्छ्वास के लिए जो तरलता होनी चाहिए थी वह भी न्यून मात्रा में है। महाकाव्य की उच्चभूमि में विराटता और भव्यता के साथ उसका आधार ठोस धरती पर ही होना चाहिए। जनसाधारण तो धरती पर स्थित वस्तु को ही पकड़ सकते हैं। इस दृष्टि से कामायनी का धरातल ऊंचा ठहरता है और इसे एक सीमा तक दोष भी कहा जा सकता है।

महाकाव्य की कसौटी पर कामायनी में कतिपय और दोष भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुकौशल का अभाव या असमीचीन विभाजन कामायनी की महान् त्रुटि है जो महाकाव्य के व्यापक प्रभाव पर भी आघात पहुँचाती है। कामायनी केवल रूप के आवरण में मनोवृत्तियों का व्याख्या-विश्लेषण करने वाला काव्य ही नहीं है वरन् मानव का इतिवृत्त भी उसमें है अतः सहज मानवीय गुणों का होना उसके लिए अनिवार्य है। कामायनी में सहजता का अभाव है। असाधारणत्व का प्राधान्य होने से कामायनी कुछ ऐसे कुहासे से आवृत हो गई है कि साधारण पाठक की पकड़ से परे मालूम होने लगती है।

अन्तर्मुखी भावनात्मक अलंकृत महाकाव्य होने के कारण सामान्य कोटि के काव्यों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। हाँ, सर्ग, छन्द, प्रकृति-वर्णन, युगीन वर्णन आदि तथ्यों का इसमें समावेश करके प्रसाद जी ने नवीनता के साथ पुरातन काव्य के नियमों का भी पालन कर दिया है। जगत् और जीवन के शाश्वत धर्मों का उद्घाटन तथा चिरन्तन जीवन मूल्यों का स्थापन कामायनी में हुआ है। कवि कर्म पर उस समय विस्मय विमुग्ध हो जाना पड़ता है जब दर्शन के साथ मानव-मन की गुत्थियों का बोध होता है और जीवन के दैनिक उत्थान-पतन को भी इसमें अंकित पाते हैं। यथार्थ में बीसवीं शताब्दी के खड़ीबोली काव्यों में कामायनी सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कामायनी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। ऐतिहासिक होने के कारण इसका आधार अनिवार्यतः सैद्धान्तिक है। इतिहास को दर्शन का बहिर्विकास स्वीकार करने के कारण कवि का ध्यान भौतिक घटनाओं के मूल में सन्निविष्ट उन सिद्धान्तों की ओर सतत बना रहा है जिनके द्वारा जगत् और जीवन की

गतिविधि का यथार्थ रूप में आकलन होता है। मनु और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा के साथ इसमें मानव-मन के विकास और मुक्ति की मनोवैज्ञानिक कथा भी है अतएव इसका दार्शनिक आधार अपेक्षाकृत व्यक्त और स्पष्ट है। मनु अर्थात् मनन-शक्ति (मन) के साथ श्रद्धा अर्थात् हृदय की भावनात्मक सत्ता, विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति तथा इड़ा अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि के संघर्ष और समन्वय का विवेचक ही कामायनी का दार्शनिक आधार है। देव, सृष्टि के ध्वंस के उपरान्त अभिनव मानव-सृष्टि का सूत्रपात करने वाले मनु, वेद ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अनुसार एक विख्यात् ऐतिहासिक पुरुष भी हैं और साथ ही उनकी कथा मानव-विकास-रूपक का सुदृढ़ आधार भी हैं। कामायनी की कथा का परिनिर्वाण मनु अर्थात् मन की आनन्दोपलब्धि के साथ होता है अतएव इसमें आनन्दवाद की प्रतिष्ठा सर्वत्र असंदिग्ध है। यह आनन्दवाद दार्शनिक सिद्धान्त या वाद की दृष्टि से प्रसाद जी की अपनी मौलिक सृष्टि है जिसके निर्माण में उन्होंने मुख्य रूप से शैव दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त दर्शन, उपनिषद् तथा वर्तमान युग की भौतिकवादी प्रवृत्तियों का आवश्यकतानुरूप उपयोग किया है। किसी एक मतवाद को पकड़कर उसी की अन्ध-उपासना प्रसाद जी को अभीष्ट न थी।

कामायनी का आधारभूत सिद्धान्त आनन्दवाद है। मन के सामरस्य दशा में अवस्थित होने पर ही आनन्द-प्राप्ति होती है। मानव मन का परम ध्येय है शाश्वत आनन्दोपलब्धि। आनन्द प्राप्ति के साधनों में पर्याप्त मतभेद होने पर भी 'आनन्दोपलब्धि' रूप लक्ष्य के विषय में आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में अवि-रोध पाया जाता है। प्रसाद जी ने कामायनी में आनन्द को साध्य मानकर जिस साधना को प्राथमिकता दी है वह है श्रद्धा और इड़ा की समन्वय भावना। श्रद्धा और इड़ा में समन्वय उत्पन्न होने पर ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य उत्पन्न होता है और यह सामरस्य ही दुःख-नाश के उपरान्त अनन्त आनन्द का पथ प्रशस्त करता है। जब मन पूर्णतः श्रद्धावान होकर तत्वाभिनिवेशी होगा तभी आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः श्रद्धा का आनन्दवाद की स्थापना में महत्वपूर्ण योग है।

श्रद्धा शब्द का तात्विक अर्थ है विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति। कामायनी में श्रद्धा को विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, शील आदि उदात्त भावों

का प्रतीक कहा गया है। वह जगद्धात्री, सर्वमंगला, अमृत-धाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है। वेद, उपनिषद, गीता, योग-दर्शन, त्रिपुरा रहस्य आदि शास्त्रों में श्रद्धा को लोक कल्याण-प्रवर्तन की मूल वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'श्रद्धाहि जगतां धात्री, श्रद्धाहि सर्वस्य जीवनम्', कह-कर ही सन्तोष नहीं हुआ श्रद्धा के अभाव में जगत् की स्थिति भी सम्भव नहीं मानी गई—'श्रद्धां वैधूर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः।' श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' कहकर गीता में श्रद्धा का परम पुरुषार्थ मोक्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया गया है। श्रद्धामूलक साधना से श्रद्धानुरूप फल-प्राप्ति गीता में बताई गई है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः या यच्छ्रद्ध स एव सः।' ऋग्वेद में श्रद्धा का गौरव और महत्व विस्तारपूर्वक वर्णित है जिसमें श्रद्धा को अभीष्ट फल-दात्री तथा वैभव की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है—

"श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥" —ऋग्वेद १०:१५

वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक श्रद्धा अपने गौरवपूर्ण आसन पर समासीन रही और उसके महत्त्व का आख्यान होता रहा। गोस्वामी तुलसी-दास ने भी अपने काव्य रामचरितमानस को हृदयंगम कर उसका लाभ उठाने के लिए सबसे पहले श्रद्धा का होना अनिवार्य बताया—

"जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ ॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा अपने तात्विक अर्थ के साथ व्यवहारिक रूप में भी जो उपयोगिता रखती है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। कामायनी में तो श्रद्धा का प्रभाव आदि से अन्त तक छाया हुआ है, उसके प्रति निष्ठावान हुए बिना काव्य के मर्म को समझना भी सम्भव नहीं।

मानव-मन के मस्तिष्क पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इड़ा अर्थात् बुद्धि। यह वृत्ति व्यवसायात्मिका है जो तर्क-वितर्क में उलझकर मानव को आनन्द-प्राप्ति के पथ से हटाने में लीन रहती है। ऋग्वेद में इड़ा-सम्बन्धी एक सूक्त है जिसमें इड़ा को बौद्धिक ज्ञान का प्रतीक होने के कारण "इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है।"

(आमुख—कामायनी) यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि इड़ा (बुद्धि) मन को उत्तेजित करने में तो समर्थ है किन्तु मन को परितुष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। यही कारण है कि श्रद्धाहीन बुद्धि क्लेश, संताप और संघर्ष को ही जन्म देने में निरत रहती है। तर्क-वितर्क और विघटन की ऊहापोह के कारण बुद्धि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस संसार में कुछ भी कल्याणकारी निर्माण नहीं कर पाता। कामायनी के इड़ा सर्ग में प्रसाद जी ने इसका स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—

हाँ अब तुम बनने को स्वतन्त्र,
सब कलुष ढालकर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया
हाँ, जलन, वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्त्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने तन्त्र
हो शाप भरा तव प्रजातन्त्र।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्यायें गढ़ती रचती हों अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो; बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकोगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता-पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

उपर्युक्त पंक्तियों में इड़ा (बुद्धि) की उन मूल प्रवृत्तियों की ओर कवि ने संकेत किया है जिनसे इड़ा का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। द्वन्द्व और संघर्ष के बीच जलन और ईर्ष्या-पंक में निमग्न इड़ा केवल अभिनव जीवन का ही पोषण करने में समर्थ है। भेद-बुद्धि उत्पन्न करके वर्गों की सृष्टि करने में लीन यह बुद्धिवाद प्रेम, ममता, समवेदना और सद्भाव से दूर स्वार्थमय एवं संकीर्ण जीवन ही प्रदान करता है। 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' शीर्षक गीत में इड़ा का वर्णन

रूप जिस प्रतीकात्मक शैली से कवि ने अंकित किया है वह उसके स्वरूप और कार्य व्यापार का अच्छा परिचायक है। हृदय की स्निग्ध भावनाओं के अभाव में वह सुख, शान्ति और सन्तोष देने में सर्वथा असमर्थ रहती है—कामायनी के दर्शन सर्ग में श्रद्धा ने इड़ा को सम्बोधित करके कहा है—

श्रद्धा बोली—"बन विषम ध्वान्त
सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय।"

इड़ा के कार्य व्यापार और स्वरूप का उपरिलिखित वर्णन पढ़कर यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि यदि सचमुच बुद्धि का यही व्यवसाय और प्रयोजन है तो उसकी यथार्थ उपादेयता क्या है ? इस प्रश्न के प्रस्तुत होने पर बुद्धि की उपयोगिता की बात निस्सन्देह जटिल बन जाती है। किन्तु बुद्धि मानव-मन के विकास में सर्वथा व्यवधान या व्यर्थ की वस्तु नहीं है। उसे हम अवांछनीय तत्त्व कहकर छोड़ नहीं सकते। उसका अपना एक विशेष प्रयोजन है और वह यह कि उसके द्वारा राग को परिपक्वता प्राप्त होती है। उसके संसर्ग से श्रद्धा दृढ़ होती है। राग को लक्ष्य के प्रति प्रेषणीय बनाने में बुद्धि का विपुल प्रयोजन है; अतः यह कहना अनुचित न होगा कि बुद्धि नियंत्रित श्रद्धा के द्वारा ही मन समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। श्रद्धा और बुद्धि का यह सामरस्य ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में अभिन्नत्व की सृष्टि करके मन को अखण्ड आनन्द की दशा में पहुँचाने का साधन है। कामायनी में यदि आनन्दवाद साध्य है तो समरसता उसकी प्राप्ति का साधन है, इसलिए श्रद्धा और इड़ा के समन्वय तथा सामरस्य दशा की प्राप्ति उन गुत्थियों को सुलझा देती है जो दर्शन की परिभाषा में सच्चिदानन्द प्राप्ति या ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। कामायनी के दर्शन की इस प्रारम्भिक सीढ़ी को पार कर लेने के बाद समरसता का रहस्य और उसका प्रभाव जान लेना भी आवश्यक है। शैवागमों से ही प्रसाद जी ने ये सिद्धान्त ग्रहण किये हैं अतः संक्षेप में शैव दर्शन की विचारधारा का उल्लेख आवश्यक है।

शैवागमों का प्रभाव—शैवागमों का कामायनी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्ध है कि प्रसाद जी को अनेक शैवागम स्मरण थे और उनकी शिव के प्रति अनन्य आस्था-श्रद्धा थी। शैव दर्शन की आधार-शिला शैवागम ही

माने जाते हैं और उन्हीं के आधार पर शिव को परात्पर ब्रह्म स्वीकार किया जाता है। शैव-सम्प्रदायों में जिन पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है उनके नाम इस प्रकार हैं—शैव, पाशुपत, कालामुख, कापालिक और वीरशैव। श्री माध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में चार सम्प्रदायों का नामोल्लेख किया है। नकुलीश पाशुपत दर्शन, शैव-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन और रसेश्वर दर्शन। दक्षिण में वीर शैवमतावलम्बियों के आधार पर लिंगायत दर्शन का विकास हुआ। इनमें से रसेश्वर दर्शन का शैव दर्शन से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। फलतः चार शैव दर्शन भारत में फैले। इन चारों में प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही कामायनी का प्रमुख आधार माना जाता है। आचार्य वसुगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रवर्त्तन किया और बाद में शास्त्र और दर्शन के रूप में इस विचारधारा का खूब प्रसार और प्रचार हुआ। इस दर्शन के त्रिक्दर्शन, स्पन्द दर्शन, षडर्थ दर्शन आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप है। यह आत्मा स्वेच्छा से शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में स्फुरित होती है। इस चिदात्मा को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एवं विश्व के उन्मीलन का कारण माना जाता है। इसके पांच कार्य माने गये हैं। दर्पण और प्रतिबिम्ब के समान चिदात्मा और संसार का सम्बन्ध है। यह संसार आत्मा में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। आत्मा को शक्ति के नाम से भी पुकारा जाता है। शक्ति के रूप में यह आत्मा, परमात्मा या परम् शिव से सर्वथा अभिन्न है। आत्मा के चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पांच रूप प्रमुख हैं।

जीव की दशा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि यह चित्स्वरूप आत्मा ही जब आणव, कार्म और मायीय नामक तीन प्रकार के मलों तथा तीन प्रकार के कंचुकों से आवृत रहता है तब जीव कहलाता है। इन्हीं मलों को पाश कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जीव की विमुक्ति के तीन उपाय स्वीकार हुए हैं जिनका नाम शांभव, शाक्त और आणव है। ये तीनों उपाय ही मोक्ष के प्राप्त कराने वाले हैं। इन उपायों में कुछ लोग शांभवोपाय को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि इसमें 'शिवोऽहम्' कहते ही जीवात्मा को शिवोऽहम् का आभास होने लगता है और सम्पूर्ण विश्व को अपने में देखने लगता है। शेष दो उपायों में साधना का मार्ग अपनाना पड़ता है अतः शांभवोपाय आनन्द-प्राप्ति कराने में

सुगम श्रेष्ठ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जीव पांच अवस्थाओं में रहता है—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरियातीत। जीव आत्मा का रूप है किन्तु तीन मलों से आवृत होने के कारण उसकी स्थिति अशुद्ध हो जाती है और वह 'संसारी' कहाता है। जीव की चार दशाएँ भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन में कही गई हैं जो मलों के न्यूनाधिक्य से सम्बन्ध रखती हैं। जीव का अन्तिम स्वरूप ज्ञान, क्रिया आदि से स्वतन्त्र होकर परम शिवत्व को प्राप्त करता है।

सृष्टि के सम्बन्ध में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की विचारधारा अन्य आस्तिक दर्शन से भिन्न है। हां, सृष्टि निर्माण में माया की प्रयोजनीयता उसी प्रकार स्वीकृत है जिस प्रकार वेदान्त दर्शन में। माया को परमेश्वर की शक्ति स्वीकार करके उसके अस्तित्व का बोध यहां है। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र न होकर परमेश्वर पर आश्रित है और वह शिव से अभिन्न तथा सत् स्वरूपा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ३६ तत्त्वों की स्वीकृति है। परम शिव देश-काल से परे विश्वोत्तीर्ण तथा परम स्वतन्त्र हैं। सृष्टि-निर्माण की इच्छा होने पर परम-शिव ही विश्व रूप बन जाते हैं। विश्व के उन्मेष की कामना से ही वे शिव-तत्त्व के रूप में आते हैं। शिव का अभिन्न अंग शक्ति माना जाता है। शक्ति के पाँच रूप माने जाते हैं जो पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं। ईश्वर, माया, प्रकृति सदाशिव, सद्विद्या, पुरुष आदि इन्हीं ३६ तत्त्वों के अन्तर्गत हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ये दार्शनिक सिद्धान्त कामायनी में स्थान-स्थान पर दृष्टिगत होते हैं। विशेष रूप से नियतिवाद, अभेदवाद, समरसता, आनन्दवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय प्रसाद जी के सामने शैव दर्शन का व्यापक आधार रहा है।

समरसता—समरसता शब्द और समरसता का सिद्धान्त प्रसाद जी ने शैव दर्शन से ग्रहण किया। शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व का सामरस्य शैव दर्शन की आधारभूत मान्यताओं में है और इसका प्रतिपादन स्थान-स्थान पर किया गया है। समस्त सुख-दुख के बीच एक रस रूप शिव विद्यमान हैं जिनकी प्रत्यभिज्ञा से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर द्वैत भी आनन्द-निस्पन्द हो जाता है—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः॥"

शैवागमों के इस समरसता का वर्णन शिव के विभिन्न रूपों को लेकर किया गया है और उसके द्वारा जगत के वैषम्य को सार्थक बनाते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि इस वैषम्य में समत्व किस प्रकार स्थापित करके शिवत्व प्राप्त किया जाय। शैव दर्शन के अनुसार जैसे एक नदी समुद्र में मिल कर समरसता को प्राप्त होती है, उनमें कोई पार्थक्य नहीं रहता, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्म भाव को प्राप्त होकर पूर्ण रूप से शिवमय हो जाती है तब सामरस्य की स्थिति समझना चाहिए। कामायनी में इसी तत्त्व को प्रसाद जी ने श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय द्वारा प्रतिपादित किया है। बुद्धि-वृत्ति की एकांगिता को श्रद्धा के समन्वय से ही सार्थक बनाया जा सकता है। समरसता का प्रारम्भ इन दोनों के यथोचित मिलन से ही प्रारम्भ होता है। लिंगायत दर्शन में समरसता शब्द को समरस से बना माना गया है। अर्थात् दो समान रसों के मिलने को समरसता कहते हैं। यहाँ समरसता को मोक्ष की दशा बताया गया है। कामायनी में इस रूप को ग्रहण नहीं किया गया वरन् प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के रूप का ही ग्रहण है। कामायनी में समरसता का वर्णन करते हुए प्रसाद जी ने स्पष्ट कहा है कि सुख-दुखातीत स्थिति ही समरसता है। केवल परमशिव का ही आनन्द प्राप्त होता है। कामायनी में सभी क्षेत्रों में समरसता मानी है। सारस्वत प्रदेश में मानव को उपदेश देती हुई श्रद्धा कहती है कि—

"सबकी समरसता का प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।"

कामायनी के रहस्य सर्ग में त्रिपुर की अवतारणा करते हुए कवि ने समरसता का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है—इच्छा, कर्म और ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है—

इच्छा—"यह देखो रागारुण है जो, ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर,
छायामय कमनीय कलेवर, भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।"
कर्म—"मनु यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ अन्धकार-सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूम-धार-सा।"
ज्ञान—"प्रियतम! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम चलता है बुद्धि चक्र जिसमें न दीनता।"

इच्छा, ज्ञान और कर्म का यह त्रित्व मानव-मन की शाश्वत प्रवृत्ति तथा गतिविधि का मनोवैज्ञानिक लेखा है अतः इनमें सामरस्य स्थापित करने की चेष्टा ही मन को परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाती है। जब तक इन तीनों में अभिन्नत्व न होगा आनन्द की प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकती है—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की:
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

इन तीनों के सामरस्य की स्थिति पर आते ही एक दिव्य स्वर-लहरी का संचार हो जाता है। मनु योगियों की परमानन्द दशा अनाहतनाद में लीन हो मुक्ति-सुख में विचरण करने लगते हैं।

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान, मिल लय थे ;
दिव्य अनाहत पर निनाद के
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

योगियों को निर्विशेष या निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर जैसी विशुद्ध अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति इस सामरस्य दशा में हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होकर जैसे अखण्ड आनन्द में योगी को पहुँचा देते हैं वैसे ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समत्व आने पर भेद-बुद्धि निःशेष हो जाती है। शैवागमों में इस स्थिति को चिदानन्द-प्राप्ति कहते हैं। यह समरसता के मार्ग से ही उपलब्ध होती है।

समरसता का यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही चरितार्थ नहीं होता वरन् लौकिक पक्ष में भी व्यावहारिकता की दृष्टि से यह पूर्णरूपेण उपादेय सिद्ध होता है। कामायनी में कवि ने वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी प्रभाव को अपने मन में धारण करके उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक संघर्ष और विनाश का चित्रण किया है। कदाचित् इसी कारण समरसता के प्रतिपादन में उसने प्रकृति और पुरुष की अध्यात्मपरक समरसता तक अपने आप को सीमित नहीं रखा। व्यक्ति और समाज की समरसता का भी विशद रूप से वर्णन और समर्थन किया है। फलतः लौकिक पक्ष में भी इस समरसता को

अधिकाधिक व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। श्रद्धा के द्वारा कवि ने इस संसार के वैषम्य का वर्णन कराकर शिवत्व या समरसता का निरूपण किया है—

> "विषमता की पीड़ा से व्यस्त, हो रहा स्पन्दित विश्व महान्
> यही दुख-सुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान।
> नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान;
> व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।"

श्रद्धा कहती है—"वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें सदा एक-रस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिव-स्वरूप होने की समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रहकर प्रत्येक कार्य में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठने वाली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान् मणि-समूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसता में उठने वाली दुःख की नील लहरियों के बीच मणिगण के समान चमकीले सुख-स्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुःख की चिन्ता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागमों के अनुसार यही लोक का कल्याण भी है।" संक्षेप में, जो समरसता लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है, वही शाश्वत सुख या आनन्द का विधायक भी। आनन्द ही प्रसाद जी का परम ध्येय और अभीष्ट है, और वही साध्य है।

आनन्दवाद—समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनन्दोपलब्धि का वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी में किया है वह सगुणोपासक वैष्णव-भक्तों का आनन्द नहीं है। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के समान आनन्द का आलम्बन अपनी आत्मा से बाहर चराचर जगत् में स्थापित न करके अपनी अन्तरात्मा में ही आनन्द की अनुभूति करना उनका लक्ष्य है। योग-शास्त्र के ध्यान, धारणा, समाधि आदि साधनों का उपयोग भी उसमें निहित है। निर्गुण-भक्ति पद्धति में जिस प्रकार निराकार-निरंजन की उपासना द्वारा अन्तरात्मा दिव्य ज्योति के आलोक से आलोकित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दवाद की साधना-पद्धति में भी अन्तरात्मा शाश्वत सुख और आनन्द से परिपूर्ण हो उल्लसित हो जाता

है। आनन्द-प्राप्ति के लिए साधक को वराह, नरसिंहावतार आदि बाह्य आलम्बनों की अपेक्षा नहीं होती। उसका आनन्द आत्म-निष्ठ और आभ्यन्तर है। शैवों के आनन्दवाद का मूल उपनिषदों में देखा जा सकता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में 'आनन्द ही ब्रह्म है' ऐसा कहकर आनन्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"कामायनी में प्रसाद जी ने अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनन्दवाद वल्लभाचार्य के 'काम' या आनन्द के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अन्तर्भूमि-पद्धति पर है।"[1] अपने आनन्दवाद की सृष्टि प्रसाद जी ने प्रमुख रूप से शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर की है, किन्तु भारतीय दर्शनों और उपनिषदों से भी उपयोगी तत्त्वों का उन्होंने चयन किया है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया और कुछ स्थलों पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य रखा। जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार करने पर भी उन्होंने अद्वैत मतानुसार उसे मिथ्या या असत् नहीं माना। माया का प्रभाव भी वे अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानते—शैवागम में माया के स्थान पर शक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इसे मानने पर जगत को मिथ्या मानना आवश्यक नहीं रह जाता। सांख्य या बौद्ध दर्शन की तरह वे संसार को दुःखमय भी नहीं मानते—हाँ, जगत की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य है। वे इस दृश्यमान जगत को आनन्द-मूर्ति शिव का विग्रह मानकर सत्य (सत्) स्वयं आनन्दमय मानते हैं। बौद्धों के नैरात्मवाद में भी उनका विश्वास नहीं। कामायनी का दर्शन आत्मवाद की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में ज्ञान को प्रधानता न देकर श्रद्धा को प्रधानता दी गई है। शांकर मत में 'ऋते ज्ञानन्न मुक्तिः' है, तो प्रसाद मत में 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का संदेश है।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि कामायनी के आनन्दवाद की सृष्टि में शैवागमों की प्रधानता है, वह सापेक्ष है। 'यह समझ लेना सर्वथा भ्रमपूर्ण होगा कि कामायनी की दार्शनिक विचारधारा सर्वतोभावेन शैव विचारधारा है। यह ठीक है कि प्रसाद जी शिव के अनन्य भक्त और आराधक

---

१. देखिये 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७६६।

थे अतः शैव दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करना उनके लिए सहज सम्भाव्य था। किन्तु शैवागमों के साथ वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रों का भी वे सतत अनुशीलन करते रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक शास्त्र की संकीर्ण विचार-शृंखला उन्हें बांध न सकी। समरसता और आनन्दवाद के मूल उपकरण शैवागमों से लेकर भी वे वेदान्त और उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म और उसकी सर्वव्यापकता की उपेक्षा न कर सके। 'महाचिति' अथवा चैतन्य का वर्णन प्रसाद जी ने शैवागम के आधार पर ही किया है। । 'दर्शन' सर्ग में कवि ने कहा है—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्
वह रूप बदलता है शत-शत।
कर विरह मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लास-पूर्ण आनन्द सतत।"

चैतन्य के अतिरिक्त इस विश्व में किसी की भी सत्ता नहीं, ऐसा शैवागमों का कथन है। शिव की शक्ति के असंख्य रूप होने पर भी शैव दर्शन में परमेश्वर की पाँच शक्तियों का वर्णन किया गया है। कामायनी में भी शिव के पांच रूप संहारक, स्रष्टा, मायायोगी, मन्त्रवित् और नटराज प्रस्तुत किए गए हैं। शक्ति की दृष्टि से शिव पांचों रूपों में सामने आते हैं—प्रकाशरूपा चित्-शक्ति, स्वातन्त्र्य-शक्ति (आनन्द शक्ति), तच्चमत्कार (इच्छा-शक्ति), आमर्शात्मकता (ज्ञान-शक्ति) और सर्वाकार योगित्व (क्रिया-शक्ति)। कामायनी के श्रद्धा सर्ग में उस महाचिति शक्ति की महिमा का वर्णन है। महाचिति लीलामय आनन्द कर रही है; उसके नेत्र खुलने पर ही विश्व का सुन्दर उन्मीलन होता है

"कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।"

शिव-शक्ति के सविस्तार वर्णन को पढ़कर पाठक के मन में यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैव दर्शन ही है और उसके मूलाधार ग्रन्थ शैवागम हैं। इससे आगे बढ़कर पाठक यह भी सोच सकता है कि शैव-सिद्धान्तों की [illegible] के लिए ही प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा के इतिवृत्त को कामायनी में ग्रथित किया है। किन्तु [illegible] कामायनी के दार्शनिक सिद्धान्तों का [illegible]

की धारणा बना लेना उचित नहीं। शैव दर्शन सामाजिक दर्शन नहीं है, वह व्यष्टि दर्शन है। समष्टि विकास के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यष्टि विकास पर ही उसका बल है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक दर्शन है ; व्यष्टि विकास से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता। समष्टिमूलक विकास-भावनाओं के साथ उसका विस्तार होता है अतः उसकी परिधि अपेक्षाकृत व्यापक हो जाती है। कामायनी के 'कर्म' सर्ग में इस सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है।

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा !
औरों को हँसते देखो, मनु हँसो और सुख पाओ ;
अपने सुख को विस्तृत करलो, सबको सुखी बनाओ।"

समष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन कामायनी के 'श्रद्धा' सर्ग में भी कवि ने उपनिषदों के 'भूमा' शब्द के द्वारा बड़ी ही सुन्दर शैली से किया है। नारद और सनत्कुमार संवाद में भूमा की महिमा-वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस संसार में जो भूमा है—व्यापक और महान् सुख है—वही अमृत है 'यो वै भूमा तत्सुखम्' —'नाल्पे सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्'। व्यष्टि सुख का तिरस्कार करती हुई समष्टि या व्यापक सुख की ओर ही प्रवृत्ति करने वाली वृत्ति ही भूमा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देना ही भूमा है और यही कामायनी की सामाजिकता का आधार है। श्रद्धा सर्ग के अन्तिम पद की अन्तिम पंक्ति तो समष्टिगत सौख्य की पुकार से गूँज रही है—"समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।" संक्षेप में कामायनी का यह समष्टि-विकास-भाव शैव दर्शन के व्यष्टि-विकास से मेल नहीं खाता और प्रसाद जी के दर्शन को अपेक्षाकृत व्यापक बना देता है। इसके अतिरिक्त कामायनी का दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन ही न रहकर व्यावहारिक भी है। उसके व्यावहारिक होने का कारण है उसमें वर्तमान युग की सामाजिक भावनाओं का ग्रहण और समर्थन। आधुनिक युग की पदार्थप्रियता जिसका दायित्व भौतिक विज्ञान पर है—कवि को इष्ट नहीं। संघर्ष सर्ग में मनु के द्वारा बड़ी ही स्पष्ट भाषा में उसने कहलाया है—

"आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर, अब कैसा डर ?
बाधा जीवन की न पास में अब आने दो,
इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो।"

वर्ग संघर्ष और सामाजिक वैषम्य एवं द्वन्द्वात्मक संघर्षों का प्रभाव भी कवि के मन पर पड़ा है और अपने समन्वय तथा सामरस्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर गया है। वर्ग-वैषम्य ने किस प्रकार सामाजिक जीवन को कुण्ठित बनाया हुआ है और उससे किस प्रकार त्राण पाया जा सकता है, यह कामायनी के 'संघर्ष' सर्ग में कवि ने बताया है। बुद्धि की विगर्हणा में भी कवि सांकेतिक शैली से यह सिद्ध करना चाहता है कि केवल तर्क-संकुल शुष्क ऊहापोह से जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं। पाश्चात्य देशों की भौतिक विचारधारा से प्रसाद जी का गहरा परिचय था और पदार्थ तथा भौतिक प्रगति के स्वरूप को समझकर उसका खण्डन भी किया था। कामायनी में भौतिकवाद के स्वरूप का आभास कवि ने भली भाँति दिया है। भौतिक विज्ञान के प्रभाव में आधुनिक युग में हम इस तथ्य को भूल रहे हैं अतः सर्वांगीण जीवन-दर्शन का निर्माण भी नहीं कर पाये हैं। सर्वांगीण विकास के लिए जिस कोटि के जीवन-दर्शन की आज आवश्यकता है वह भौतिक साधनों तक सीमित रहने से ही उपलब्ध नहीं हो सकता। वैज्ञानिक यन्त्रों के आविष्कार ने मानव का सच्चा सुख अपहरण कर लिया है। आज मानव जड़-मशीन-सा होकर संहार और विनाश का साधन मात्र रह गया है—

"प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी !"

जीवन को शान्ति और सुख के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए यह अनि-वार्य है कि वर्ग संघर्ष और वैयक्तिक लोभ-मोह की सीमाओं से ऊपर उठकर हम चिति शक्ति के अखंड आनन्द को उपलब्ध करने की चेष्टा करें। शुद्ध निर्लेप चैतन्य का साक्षात्कार और अखंड आनन्द-प्राप्ति यदि [illegible] है तो हमें लौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में समन्वय और समरसता को स्वीकार करना होगा। श्रद्धा के संसर्ग से बुद्धि (इड़ा) का संस्कार करने [illegible]

चैतन्य द्वारा भावना, ज्ञान और क्रिया में सामरस्य उत्पन्न करके अखण्ड आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कामायनी की दार्शनिक विचारधारा पर बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। दुखवाद बौद्ध दर्शन का आधारभूत सिद्धांत माना जाता है। संसार को दुखमय देखकर दुख निवृत्ति का उपाय ही जीवन का ध्येय है। 'दुख जलधि का नाद अपार' में दुख के व्यापकत्व की ध्वनि स्पष्ट है। प्रसाद जी की दृष्टि आनन्दमयी थी अतः संसार को बौद्धों की तरह केवल दुखमय मानना उन्हें अभीष्ट नहीं था फिर भी दुख की छाया उन्होंने वर्णित की है। क्षणभंग-वाद बौद्ध दर्शन का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है, उसका भी संकेत कामायनी में है। करुणा और समवेदना का आधिक्य भी बौद्धों के प्रभाव में गृहीत हुआ है। आस्तिक दर्शनों में वेदान्त, न्याय वैशेषिक और सांख्य की विचारधारा भी पाई जाती है।

संक्षेप में कामायनी की कथा ऐतिहासिक होने के साथ एक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना की सुदृढ़ एवं शाश्वत भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। श्रद्धा नियोजित संतुलित बुद्धि के सहयोग से मनु उस मार्ग पर चलने योग्य होता है, जो जीवन का चरम साध्य है। जब वह लक्ष्य पर पहुँच जाता है तब उसका मन पूर्णरूपेण स्वस्थ, शुद्ध और चैतन्य के आलोक से पूर्ण होकर आनन्द-लीन हो जाता है। ताप, शाप, दुःख, दैन्य, संघर्ष और द्वन्द्व की जड़ता तिरोहित हो जाती है और आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है—

> "शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
> जीवन वसुधा समतल है, समरस जो कि जहाँ है॥
>
> × × ×
>
> समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
> चेतनता एक विकसित आनन्द अखण्ड घना था॥"

कामायनी में रूपक तत्त्व

कामायनी प्रसाद जी का एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, [illegible] घटनाओं में ऐतिहासिक प्राचीनता के [illegible] प्रतीकात्मक [illegible] अभिव्यंजना हुई है। इसी प्रतीकात्मक [illegible]

पर 'कामायनी' को रूपक काव्य कहा गया है। कामायनी में रूपकत्व की सार्थकता सिद्ध करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि 'रूपक' से क्या अभिप्राय है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रूपक शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। एक अर्थ में रूपक समस्त दृश्य काव्य का द्योतक है कि जिसमें अभिनेता किसी व्यक्ति की अवस्था का आरोप करके अभिनय करता है; दूसरे रूपक साम्यमूलक अलंकार का नाम है जिसमें अप्रस्तुत वस्तु का प्रस्तुत वस्तु पर अभेद आरोप होता है। उन दोनों अर्थों में पृथक रूपक का एक तीसरा अर्थ भी है, जो अपेक्षाकृत आधुनिक अर्थ में 'रूपक' अंग्रेजी के एलिगरी का पर्याय है। एलिगरी एक प्रकार के कथा-रूपक को कहते हैं जिसमें द्वयर्थक कथा होती है, जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष होता है और दूसरा गूढ़। शुक्ल जी ने इस प्रकार की गूढ़ार्थ-व्यंजक रचना को अन्योक्ति कहा है। तात्पर्य यह है कि रूपक अलंकार में जहाँ प्रायः एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है, वहाँ कथा-रूपक में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। इसमें भी एक कथा प्रस्तुत होती है और दूसरी अप्रस्तुत।

रूपक काव्य के प्राच्य एवं पाश्चात्य रूपों के आधार पर कामायनी का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि इसमें रूपक काव्य की विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं। इसमें एक प्रस्तुतार्थ के अतिरिक्त अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा भी वर्तमान है। इस तथ्य की पुष्टि 'कामायनी' के 'आमुख' में उल्लिखित स्वयं प्रसाद जी के शब्दों से होती है।

"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ है।..................यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।.........इन सबों के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

प्रसाद जी की उपर्युक्त मान्यता से स्पष्ट है कि कामायनी मूलतः एक ऐतिहासिक काव्य है किन्तु [illegible] कामायनी में रूपक तत्त्व भी निहित

उसका संदेश सुनाने को,
संसृति में आई वह अमला।"

इड़ा बुद्धिवाद की अति को जन्म देनेवाली तर्कमयी बुद्धि का प्रतीक है। "बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल........." में प्रसाद जी ने व्यक्त रूप से उसके प्रतीकात्मक स्वरूप का चित्र अंकित किया है।

इसके अतिरिक्त गौण पात्रों एवं घटनाओं में मनु-पुत्र कुमार नवीन मानवता का प्रतीक है। वह पिता से मननशीलता, श्रद्धा से हार्दिकता एवं इड़ा से बुद्धि प्राप्त कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त करता है। आकुलि और किलात आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। श्रद्धा-पशु अत्यन्त निरीह और शोषित प्राणी है। उसे आधुनिक अर्थ में गांधीवादी अहिंसा का प्रतीक माना जा सकता है। देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं। वृषभ अनादि काल से धर्म का प्रतिनिधि माना गया है—'या सोमलता से आवृत, वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि।' सोमलता से युक्त होने के कारण वह भोगयुक्त धर्म का प्रतिनिधि है। सोमलता मनु की विलास-वासना को उत्तेजित करती है इसलिए वह भोग की प्रतीक है। सारस्वत नगर प्राणमय कोप का प्रतीक माना जा सकता है और सारस्वत नगर निवासी मनु के अतिचार पर उसका विरोध करते हैं, इसलिये वे मन की सहचारी अन्य इन्द्रियों के प्रतीक हैं। जल-प्लावन में अबाध इंद्रिय-लिप्सा में लीन देवों के विलीन होने का वर्णन है, इसलिए इसे 'माया' या वासनापूर्ण अन्नमय कोश का प्रतीक माना जा सकता है। पशु-यज्ञ में कपटपूर्ण व्यवहार होने के कारण वह 'पाप' का प्रतीक है। त्रिलोक या त्रिपुर का प्रतीकार्थ भाव-लोक, कर्म-लोक तथा ज्ञान-लोक अर्थात् चेतना की तीन प्रवृत्तियों—भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति से है। मानव-जीवन में जब तक यह तीनों वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् रहती हैं जब तक मन अशान्त और उद्विग्न रहता है, इन तीनों का समन्वय हो जाने पर मन समरसता की अवस्था को प्राप्त करता है—

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

सरोवर समरसता की अवस्था का प्रतीक है, क्योंकि वहीं पर पहुँचकर मन को

प्यास मिट जाती है और मन सन्तुष्ट हो जाता है। कैलाश पर्वत आनन्दमय कोश का प्रतीक है; क्योंकि यहाँ पर कामायनी के समस्त पात्रों को अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है।

रूपक के प्रतीक—कामायनी के प्रस्तुत पक्ष में मनु की कैलाश स्थित मानसरोवर यात्रा का वर्णन है जिसके (यात्रा के) पूर्ण होने पर मनु का उद्विग्न और अशान्त मन चिरन्तन शान्ति और अखण्ड आनन्द का लाभ करता है। अप्रस्तुत पक्ष में यह यात्रा मन का समरसता की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न है, जहाँ पर वह समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक क्लेश और कष्टों से उन्मुक्त होकर पूर्ण आनन्द प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में यह यात्रा मनोमय कोश में स्थित जीव की आनन्दमय कोश में स्थित होने की साधना है। तैत्तरीय उपनिषद् में आध्यात्मिक साधना की सिद्धि के निमित्त पंचकोशों की कल्पना की गई है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। सर्वप्रथम जीव अन्नमय कोश से उत्पन्न होकर क्रमशः साधना करता हुआ आनन्दमय कोश तक पहुँचता है। कामायनी में भी प्रसाद जी ने अहंभाव से युक्त मन (मनु) को विविध कोशों से क्रमशः आनन्दमय कोश तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। सर्वप्रथ मन(मनु) प्रलय की विभीपिका से उद्विग्न और अहं की भावना से अभिभूत दिखलाई पड़ता है। इसी क्षण इसका हृदय से (श्रद्धा से) संयोग होता है। इस हृदय तत्त्व के साहचर्य से मन को कर्म करने की प्रेरणा मिलती है और जीवन में स्फूर्ति का संचार होता है। किन्तु इसी बीच में मन सोमलता आदि भोगों की प्रेरणा में आसुरी वृत्तियों के अधीन हो जाता है। हृदय इन वृत्तियों का तीव्र विरोध करता है किन्तु मन इस अनौचित्य को क्षणिक रूप में स्वीकार करते हुए भी अहं की भावना से अभिभूत हो जाता है। परिणामस्वरूप वह वासनापूर्ण एवं हिंसामय जीवन यापन करने लगता है। हृदय की राग-वृत्ति से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और चेतन जीव की दूसरी शक्ति—बुद्धि-शक्ति से उसका संयोग होता है। भोग और वासना-प्रधान जीवन को श्रेय मानने के कारण उसे बुद्धिवाद की अति से युक्त तर्कशीला बुद्धि अधिक प्रिय जान पड़ती है। उसे भी वह अपनी वासना-पूर्ति का साधन बनाने का प्रयत्न करता है; किन्तु बुद्धि उसके इस प्रयत्न का विरोध करती है। परिणामस्वरूप मन चेतना-शून्य हो जाता है और तर्कमयी बुद्धि को

त्यागकर पुनः हृदय की शरण में आता है। हृदय समवेत मन का उचित दिशा में विकास होता है और वह मनोमय कोश में पहुँच जाता है। यहाँ पहुँचकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपी त्रिपुर व त्रिलोक की वास्तविकता का उचित ज्ञान होता है। ये तीनों लोक उस हृदय शक्ति के ही पृथक्-पृथक् त्रिरूप हैं। इनकी वास्तविकता का ज्ञान होते ही तीनों का समन्वय हो जाता है और मन विज्ञानमय कोश में पहुँच जाता है। यहाँ पहुँचकर मन का अहं और उसकी उद्विग्नता शान्त हो जाती है। और उसे अनेकत्व में एकत्व की अनुभूति होने लगती है। सोमलता से आवृत्त धर्म-प्रतिनिधि वृषभ उत्सर्ग हो जाता है और मन सम्पूर्ण जड़-चेतन में एक चेतनता अनुभव करता हुआ अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है और आनन्दमय कोश में पहुँच जाता है।

इस प्रकार प्रतीकों के निर्वाह की दृष्टि से कामायनी निस्संदेह एक रूपक है। किन्तु सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि रूपक-काव्य की सभी विशेषताओं का कामायनी में पूर्ण समाहार नहीं हुआ है। रूपक-गाथा के पात्र और घटनाएँ सामान्यतः कल्पित होती हैं किन्तु कामायनी के पात्र और घटनाएँ सर्वथा इतिहासानुमोदित हैं।

इसके अतिरिक्त नवीन मानवता के प्रतीक कुमार का इस रूपक-गाथा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मनु जब मानव-मन का प्रतीक है तो उसके पुत्र को नव मानवता का प्रतीक मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इससे उनमें एक ही प्रतीकार्थ की पुनरावृत्ति हो जाती है। इस प्रकार एक-दो अपवादों के अतिरिक्त कामायनी में प्रतीकात्मकता की सम्यक् योजना है इसलिए इसे रूपक के साथ प्रतीकात्मकता की इसकी एक विशिष्टता माना जा सकता है।

कामायनी का काव्य-सौष्ठव

काव्य की सार्थकता और उसकी रमणीयता का मूलाधार [illegible] है जिसके द्वारा कवि के अन्तर की संवेदना पूर्ण रूप धारण करती है। सरस, कोमल, मधुर, सुन्दर तथा सार्थक शब्द-योजना ही [illegible] के [illegible] सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों एवं विचारों को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

उसकी रागात्मक वृत्तियों को उच्छ्वसित करने में समर्थ होती है। अतः काव्य-रचना का मूलाधार भाषा ही है। भाषा की रचना पद, पदांशों एवं वाक्य और वाक्यांशों द्वारा होती है और पद या वाक्य का मूलाधार शब्द है। अतः शब्द-योजना भाषा की रचना का मूलाधार है। भावानुकूल, चित्रोपम, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक तथा ध्वन्यात्मक भाषा काव्य की रमणीयता एवं रसात्मकता का उत्कर्ष-विधान करती है। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से 'कामायनी' का अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि 'कामायनी' प्रसाद जी के भावों की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति है। इसलिए इसमें अभिव्यंजना के विविध रूपों का प्रौढ़ एवं विकसित रूप मिलता है। शब्द-चयन की दृष्टि से इसमें प्रायः सर्वत्र सशक्त एवं सुसंघटित शब्द-योजना दृष्टिगोचर होती है। कामायनी का अधिकांश भावानुकूल चित्रोपम शब्दों से सुनियोजित है। शब्दों में नाद-सौंदर्य एवं ध्वन्यात्मकता का भी पूर्ण समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ चिन्ता सर्ग में प्रलय-वर्णन द्रष्टव्य है—

"हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगंत बधिर, भीषण रव बार बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के,
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।"

इस पद को पढ़ते ही प्रलय की भीषणता एवं भयंकरता, बिजली की कड़-कड़ाहट, मेघों का गर्जन और झंझा के झटकों का सजीव चित्र हमारे अन्तर्नेत्रों के समक्ष अंकित हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो हम झंझा के भीषण झंझावात और मेघों के गर्जन-तर्जन एवं करुण क्रन्दन का स्वयं अनुभव कर रहे हों। प्रलय की भयंकरता का ध्वन्यात्मक एवं सजीव चित्र अंकित करने के लिये कवि ने ट-वर्ग तथा अन्य कठोर वर्णों और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग किया है। जहाँ भाव की कोमलता का चित्र अंकित करना कवि का अभीष्ट होता है वहाँ वह उसी भाव के अनुकूल सरल, सरस, एवं माधुर्य गुण युक्त भाषा का प्रयोग करता है। 'लज्जा' मनोभाव से सम्बन्धित पदों में शब्द-विधान सर्वथा सरल एवं भाव-व्यंजक है जिसमें भावों के प्रत्यक्षीकरण की अपूर्व क्षमता है।

भावानुकूल चित्रोपम शब्दों के अतिरिक्त प्रसाद जी ने छायावादी काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार शब्दों के लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोग भी किये हैं।

इस प्रकार के प्रयोगों में सूक्ष्म मनोभावों के सजीव चित्र अंकित करने की अद्भुत क्षमता है। जैसे—'कुसुमित कुंजों में वे प्रेमालिङ्गन हुए विलीन', 'मौन हुई हैं मूर्छित तानें', 'उज्जवल वरदान', 'मतवाली सुन्दरता', 'तरल आकांक्षा' आदि लाक्षणिक प्रयोग उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं। प्रसाद जी की प्रतीक-योजना भी अत्यन्त प्रौढ़ है जिसके द्वारा उनके अन्तस्तल के सूक्ष्म भावों की सजीव अभिव्यंजना होती है। जैसे—कवि ने वैभव-हीनता के लिये, 'सूना राज', यौवन के विकास के लिये, 'उषा की लाली', किशोरावस्था के लिये 'मधुमय वसन्त', अनन्त पीड़ा के लिये 'मरुज्वाला' आदि प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग किये हैं, जिससे भाषा में प्रेषणीयता एवं प्रभविष्णुता की अपूर्व शक्ति का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रसाद जी की भाषा नाद-सौंदर्य से भी मुखरित हो उठी है। जैसे 'धँसती धरा धधकती ज्वाला', 'धू धू करता नाच रहा था' इत्यादि शब्द अपने नादात्मक सौंदर्य से भाव-वस्तु का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'कामायनी' में रसात्मकता एवं मधुरता का संचार करने के लिये प्रसाद जी ने प्रचलित लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इससे उनकी रचना में उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गाम्भीर्य की अनुपम सृष्टि हुई है। सारांश यह कि कामायनी की शब्द-योजना अत्यन्त सरल, सरस, सजीव एवं चित्रात्मकता से युक्त है।

स्वर-विधान की दृष्टि से भी 'कामायनी' का सम्पूर्ण कलेवर संगीतात्मकता से अन्तर्व्यंजित हो उठा है। सम्पूर्ण काव्य में स्वरों के आरोह-अवरोह, उनके ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत एवं कोमल तथा परुष स्वरों के संयोग से एक अद्भुत स्वर-लहरी का संचार हुआ है। व्यंजनों के साथ स्वरों की ऐसी सम्यक् योजना की है कि जैसे वे मुखरित हो उठे हैं।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' में रस या भाव का चित्र प्रस्तुत करने के लिए, अथवा किसी भाव या वस्तु का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने के हेतु अलंकारों का भी समुचित प्रयोग किया है। 'कामायनी' में जितने भी अलंकार [illegible] वे सब अनायास ही प्रयुक्त हुए हैं और उनमें कवि [illegible] सजीव अनुभूति का परिचय मिलता है। अलंकारों में प्रसाद जी [illegible] अर्थालंकारों के अतिरिक्त [illegible] शब्दालंकारों में भी [illegible] का प्रयोग अधिक हुआ है। इनका प्रयोग [illegible]

करने के लिये किया गया है। सादृश्यमूलक अलंकारों में रूप सादृश्य की अपेक्षा गुण-सादृश्य एवं भाव-सादृश्य से सम्बन्धित अलंकारों को ही अधिक ग्रहण किया है। कामायनी में सादृश्य सम्बन्धी अलंकारों में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। कहीं मूर्त्त उपमेय के लिये मूर्त्त उपमान, कहीं मूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमान, कहीं अमूर्त्त उपमेय के लिये मूर्त्त उपमान तथा कहीं अमूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमान की योजना की गई है। उदाहरणार्थ—

(१) मूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमान—
"आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार।
चपल शैशव सा मनोहर भूल का ले भार।"

(२) अमूर्त्त उपमेय के लिये मूर्त्त उपमान—
"मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल।"

(३) अमूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमान—
(क) "निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी-सी।"
(ख) "व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा।"

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग भावों को सजीव एवं हृदयग्राही बनाने के लिये किया गया है।

उत्प्रेक्षा—(हेतूत्प्रेक्षा)—
"बार बार उस भीषण रव से कँपती धरणी देख विशेष।
मानो नील व्योम उतरा हो आलिङ्गन के हेतु अशेष॥"

रूपक (परम्परित रूपक)—
"विश्व कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से,
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से।"

रूपकातिशयोक्ति—
"आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त।"

यहाँ 'अनन्त वसन्त' देवों के अमर यौवन का प्रतीक है। कामायनी में इस प्रकार के रूपकातिशयोक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें प्रतीकात्मकता के साथ-साथ लाक्षणिकता का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। प्रसाद जी ने 'कामायनी' में अर्थ-सौष्ठव लाने के लिये विरोधाभास अलंकार का भी प्रयोग

किया है। इसमें विरोध न होकर शब्दों में विरोध का आभासमात्र होता है किन्तु अर्थ की गम्भीरता में जाने पर विरोध शांत हो जाता है और अर्थ में एक अप्रतिम सौष्ठव की अनुभूति होती है। यथा—'अमर मरेगा क्या ? तू कितनी गहरी डाल रहा है नींव' तथा 'खेल रहा है शीतल दाह !' कुछ अन्य प्रचलित अलंकारों का प्रयोग भी 'कामायनी' में हुआ है किन्तु अपेक्षाकृत कम।

भारतीय अलंकारों के अतिरिक्त काव्य में अधिक वक्रता एवं मूर्तिमत्ता लाने के लिये प्रसाद जी ने पाश्चात्य अलंकारों को भी अपनाया है जिनमें मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय एवं ध्वन्यार्थव्यंजन प्रमुख अलंकार हैं। मानवीकरण अलंकार में प्राकृतिक अचेतन पदार्थों एवं भावनाओं में चेतनता का आरोप करके कविता में उनका चित्रण किया जाता है। जैसे—

"धीरे धीरे हिम आच्छादन हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई मुख धोती शीतल जल से ॥"

विशेषण-विपर्यय—

(१) "जलधि लहरियों की अंगड़ाई बार-बार जाती सोने;"
(२) "खुलीं उस रमणीय दृश्य में अलस चेतना की आँखें।"

'ध्वन्यार्थ व्यंजन' अलंकार में ध्वनि की प्रधानता होती है। काव्यगत शब्द अपनी ध्वनि से ही प्रसंग और अर्थ की व्यंजना कराकर पाठक के सामने उस भाव का चित्र खड़ा कर देता है। जैसे—

"धीरे धीरे लहरों का दल, तट से टकरा होता ओझल,
छप छप होता शब्द विरल, थर-थर कँप रहती दीप्ति विरल।"

कामायनी में शब्द की तीनों शक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना—का यथास्थान प्रयोग हुआ है। किन्तु लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। क्योंकि सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों को कुशलता एवं सुन्दरता से अभिव्यक्त करने में ये दो शब्द-शक्तियाँ ही अधिक समर्थ होती हैं। कामायनी में लक्षणा एवं व्यंजना के सभी भेदोपभेद के उदाहरण मिलते हैं। जिनमें कुछ को निम्नलिखित रूप में रखते हैं—

प्रयोजनवती लक्षणा—

"नारी का वह हृदय, हृदय में सुधा-सिंधु लहरें लेता;
बाड़व ज्वलन उसी में जलकर, कंचन सा जल रंग देता।"

उपादान लक्षणा—

"अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग धर उठी।"

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—

"कौन तुम संसृति जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि एक!"

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—

"अरुण जलज के शोण कोण से नव तुषार के बिन्दु भरे।"

इसमें 'अरुण जलज' का प्रयोग विरहिणी श्रद्धा की रुदन करती हुई लाल-लाल आँखों के लिये किया गया, और नव तुषार-बिंदु उसके आँसुओं के द्योतक हैं।

देशवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—

"वल्लरियाँ नृत्य करतीं थीं बिखरी सुगन्ध की लहरें,
फिर वेणु रन्ध्र से उठकर मूर्छना कहाँ अब ठहरे॥"

इस पद से कैलाश-गिरि पर संचरित आनन्द और उल्लास की व्यंजना होती है। कामायनी में शब्द की इन दो शक्तियों का प्रचुर प्रयोग हुआ है जिसके द्वारा उसमें उक्ति-वैचित्र्य और अर्थगाम्भीर्य की अनुपम सृष्टि हुई है। वस्तुतः कामायनी के काव्य सौंदर्य का आधार ये लाक्षणिक, प्रतीकात्मक एवं व्यंग्यपूर्ण वर्णन ही हैं।

प्रसाद जी ने कामायनी की भाववस्तु और उसकी रस-सामग्री को किस शैली में प्रस्तुत किया यह भी विचारणीय है। शैलियाँ सामान्यतः चार प्रकार की मानी गई हैं—सरल शैली, अलंकृत शैली, गुम्फित शैली या क्लिष्ट शैली तथा गूढ़ सांकेतिक शैली। कामायनी का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उसमें काव्य की प्रायः सभी शैलियों की समुचित योजना हुई है। उसमें क्लिष्टता और सरलता, विस्तार और सूक्ष्मता, गहनता और सुबोधता, सांकेतिकता और स्वाभाविकता का एक साथ समुचित सम्मिलन हुआ है। वस्तुतः प्रसाद जी ने भावानुकूल भाषा के आधार पर उसमें प्रेषणीयता लाने के लिये विभिन्न शैलियों का यथा अवसर प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त कामायनी में काव्य की तीनों रीतियों एवं तीनों गुणों को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हुआ है।

हुआ। कहने का आशय यह है कि मनुष्य शरीर का प्रकृति के साथ इतना गहरा और प्राचीन सम्बन्ध है।

शारीरिक ही नहीं, प्रकृति और मनुष्य का मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध भी है। गीता में आठ प्रकार की प्रकृति बताई गई है—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृति रष्टधा॥" —गीता ७।४

भूमि, जल, अग्नि, पवन, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार बाहरी जगत् और भीतरी जगत् (मनोजगत्), सब प्रकृति में सम्मिलित हैं। ये सब तत्व ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं, इस नाते सब एक पारस्परिक दृढ़ शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध में सदा से बंधे हुए हैं। वास्तव में यह आन्तरिक और बाह्य—दोनों प्रकार की प्रकृतियां एक ही बीज (ब्रह्म) से फूटे हुए दो अंकुर हैं। यह सारी प्रकृति (अन्तःप्रकृति और बाह्य प्रकृति) तीनों गुणों वाली है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। बाहर-भीतर जब शान्ति, स्वच्छता, व्यवस्था और शुभता का अनुभव होता है तो सात्त्विक; जब भोग-प्राप्ति के उद्देश्य से उत्पन्न हुई क्रियाशीलता के साथ सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय का उद्वेग व चंचलता आदि का अनुभव होता है तो राजसिक और जब प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, भयंकर, राग द्वेष, घृणा आदि आसुरी [illegible] का अनुभव होता है तो तामसिक गुणों का उत्कर्ष कहा जाता है। [illegible] में से एक गुण तो सदा प्रमुख रहता है और शेष दो उसके [illegible] प्रत्येक क्षण में अगुवा बनने के लिए परस्पर [illegible] सांख्यशास्त्र के अनुसार इन गुणों पर पूर्ण विजय पाकर [illegible] और प्रकृति के बन्धनों से सर्वथा छूट जाना ही [illegible] है।

काव्य में दोनों ही प्रकार की प्रकृति [illegible]

बाह्य प्रकृति=[illegible]

समुद्र, पर्वत, [illegible], नदी, [illegible]

[illegible] होता है। मानसिक [illegible]

राले अलमस्त बादलों को देखकर हम आनन्द-मग्न हो जाते हैं, शरद ऋतु के चांद-तारों और चाँदनी की शुभ्र छटा को देखकर मन भाव-सिंधु में केलि करने लगता है, हेमन्त-शिशिर की सुखद और प्राणदा धूप में लेटकर हम नील स्वप्न कुँजों में विहार करने लगते हैं और वसन्त में रस के कुल्ले करती प्रकृति की शोभा को देखकर मन प्रतिक्षण किसी के लिए मचल-मचल उठता है। यह तो मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक तथ्य है ही। किन्तु काव्य में एक विशेष बात और होती है। जिस प्रकार मानव पर प्रकृति का प्रभाव बताया जाता है उसी प्रकार मानव अथवा उसके जीवन का प्रभाव भी प्रकृति पर दिखाया जाता है। वास्तव में ऐसा होता नहीं, पर कल्पना के बल पर यह काम भी कवि लोग करते आये हैं। 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' की ये पंक्तियाँ लीजिए—

"धीरे-धीरे मृदु पवन में चाव से थी न डोली।
शाखाओं के सहित लतिका शोक से कंपिता थी॥" (हेतूत्प्रेक्षा)
"फूलों पत्तों सकल पर है वारि बूँदें दिखातीं।
रोते हैं या विटप सब यों आंसुओं को दिखा के॥" (संदेहालंकार)
"धीरे-धीरे तरणि निकला काँपता दग्ध होता।
काला-काला व्रज अवनि में शोक का मेघ छाया॥" (हेतूत्प्रेक्षा)

इनमें श्रीकृष्ण के प्रवास-जनित दुःख का प्रकृति पर प्रभाव दिखाया गया है। मानवों की तरह प्रकृति भी विपण्ण है, शोकाकुल है, द्रवीभूत है।

इसमें तीन बातें निहित हैं—(१) अलंकारों का प्रयोग, जैसा कि उद्धरणों के साथ बताया गया है, (२) प्रकृति पर चेतना का आरोप, और (३) प्रकृति का मानवीकरण। अलंकारों से वर्णन में रोचकता आ गई है वह तो ठीक ही है, पर सामान्य जिज्ञासा हो सकती है कि प्रकृति पर कवि जान-बूझ कर चेतना का आरोप क्यों किया करते हैं? वह तो जड़ है, समझती-बूझती नहीं फिर निठल्ले कवि बैठे-बैठे यह उल्टे-सीधे धंधे क्यों किया करते हैं? उत्तर महत्त्वपूर्ण है। सभी मनुष्य एक सी वृत्ति और भावों के नहीं। कुछ अपने काम से काम रखते हैं। उन्हें टके से ही सरोकार रहता है। वास्तव में उनके लिए तो प्रकृति ही जड़ नहीं है, वे तो स्वयं ही जड़ हो चुके। इसलिए उनकी छोड़ो। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति साधारण कल्पना-भावुकता वाले होते हैं। किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे कल्पनाशील, भावुक और सरस प्रकृति के होते हैं कि वे जड़-चेतन

सब में एक विराट् जीवन-चेतना के संचार का रसात्मक अनुभव नित्य नहीं तो कम से कम करुण या हिला देने वाले अवसरों पर तो अवश्य ही किया करते हैं। कोरे रूखे तार्किकों और बुद्धिजीवियों की दृष्टि में ऐसे सहृदयों का महत्त्व चाहे न हो पर मनुष्यता की शीतल आभा ऐसे ही सज्जन धरती पर छिटकाते हैं ! हाँ तो भावना के क्षणों में प्रकृति कवि के लिये चेतन हो उठती है। इतना ही नहीं सारी प्रकृति में कवि मानव-जीवन का सा स्पन्दन, आमोद-प्रमोद, हास-रुदन आदि के एक निरन्तर प्रवाह का अनुभव करता रहता है। यह उच्च कोटि के वेदान्त की स्थिति है जिसमें सृष्टि का कण-कण आनन्द, चैतन्य और प्रकाशपूर्ण लगता है। फिर, वैज्ञानिक प्रकृति का ही क्या चेतन मानव का भी जड़ तत्त्व की तरह विवेचन करता है जबकि कवि जड़ प्रकृति को भी चेतन सत्ता के धरातल पर उठा ले जाता है (बा० गुलाबराय जी का विचार)। इस प्रकार 'चेतना का आरोप' में इतनी बात निहित है। 'आरोप' को चाहे आप कह लें। कवि तो वास्तव में प्रकृति में अखंड चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति का अनुभव करता रहता है। भारतीय दर्शन-पद्धतियों में प्रकृति जड़ और चेतन दोनों ही मानी गई है। वेदान्त के अनुसार प्रकृति का कण-कण [illegible] के नाते चिरचेतन है किन्तु यदि उसमें ब्रह्म की सत्ता का आभास हमें अनुभव न हुआ हो तो प्रकृति जड़ ही है। राम और कृष्ण के अनुयायी भक्त भी (विशेषतः वल्लभाचार्य और उनके अनुयायी अष्टछाप के कवि) [illegible] के नाते ही प्रकृति को चेतन अनुभव करते हैं अन्यथा वह जड़ ही है। सांख्य दर्शन तो प्रकृति को जड़ ही मानता है और उससे मुक्त होने में ही आत्मा का कल्याण मानता है। भारत के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता सर जगदीशचन्द्र बसु ने वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रकृति में चेतना का अस्तित्व सिद्ध किया था। कवि आत्मा का प्रकाश और रस मिलाकर प्रकृति को चेतन बना देता है। [illegible] में उसके अभाव में तो प्रकृति जड़ है ही।

प्रकृति में चेतना के सम्बन्ध में इतनी चर्चा कर लेने के बाद उसके मानवीकरण पर अब कुछ कहना शेष रह जाता है। 'मानवीकरण' का अर्थ है [illegible] प्रकृति के जड़ पदार्थों को चेतन मानव के समान ही [illegible] (हँसते, रोते, गीत-गाते, उठते-बैठते आदि) दिखाना।

प्रकृति-सम्बन्धी इतनी सिद्धान्त-चर्चा के बाद कुछ महत्त्वपूर्ण बातें और कह कर (क्योंकि उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्ध 'प्रसाद' और उनकी कविता से है।) हम 'प्रसाद-काव्य में प्रकृति'—इस मूल विषय पर आयेंगे।

कवि तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रकृति को ही मुख्य विषय रखकर चलनेवाले, (२) प्रकृति और मानव दोनों का ही ठीक-ठीक अनुपात (proportion) में ग्रहण करनेवाले, और (३) केवल मानव-जगत् तक ही अपनी गतिविधि को सीमित रखनेवाले। 'प्रसाद' द्वितीय प्रकार के कवियों में से थे। वास्तव में केवल प्रकृति ही जहाँ काव्य का विषय हो जाती है वहाँ सृष्टि की मुख्य रचना—मानव (केवल जिसके लिए ही लीलामय प्रभु ने इतना पसारा किया) से विच्छिन्न हो जाने के कारण उसमें वह यथार्थता, व्यापकता और मार्मिकता नहीं आ पाती। वह रचना कोरी हवाई हो जाती है। मानव की सुख दुःखमयी अनुभूतियों के व्यापक संदर्भ के बिना अपने आप में वे लूली सी लगती हैं। पर यह भी सत्य है कि इस प्रकार की पूर्ण मानव-निरपेक्ष रचना, यदि कहीं हुई भी है तो, अत्यन्त अल्प परिमाण में ही होगी। तीसरे प्रकार के कवि भी बहुत ही थोड़े होते हैं जो प्रकृति से अनुराग न रखते हों। वास्तव में महत्त्व दूसरे प्रकार के कवियों का ही सर्वाधिक होता है। जहाँ प्रकृति और मानव का सुखद सामंजस्य घटित हो गया हो, उस काव्य की गहरी क्षमता और प्रभावशालिता का क्या कहना! वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, वर्ड्स-वर्थ, जायसी, सूर, तुलसी, प्रसाद, टैगोर आदि कवि इसी खेवे के हैं। 'प्रसाद' प्रकृति की ओर ही कुछ अधिक झुके हुए से लगते हैं पर उधर का यह झुकाव भी मानव को सुखी व समृद्धिशाली बनाने का ही एक उपक्रम है। बात यह है कि संसार की मूल प्रकृति दुःखमय है। चारों ओर दुःख-दावा, अशान्ति-रुदन, अश्रु-आह, शोषण-उत्पीड़न हैं। ऐसे मूर्च्छित के पास बैठे-बैठे रोने की अपेक्षा द्रोणाचल से बूटी लेने जाने में अधिक शौर्य, साहस और समयोपयोग है! 'प्रसाद' प्रत्येक क्षण मनुष्य की मिर्गी की दवा प्रकृति में ढूँढ़ते फिर रहे हैं—आदि से अन्त तक आप उनका साहित्य देख जाइये! सहमत होना कठिन है उन व्याख्याताओं से जो 'प्रसाद' के '**ले चल मुझे भुलावा देकर**' नामक 'लहर' के गीत को पलायनवादी गीत बताकर उसकी व्याख्या करते हैं—शायद 'भुलावा' शब्द ही उन्हें यह व्याख्या करने को विवश कर देता है। और फिर इस कुटिल,

प्रबन्ध काव्यों अथवा महाकाव्यों में ही होता है, मुक्तक काव्य में नहीं। अब युग मुख्यतः मुक्तक काव्य का है जिसमें प्रत्येक भाव की ध्वनि मात्र उत्पन्न करके छोड़ दी जाती है। फिर जीवन-संघर्ष की जटिलता से अब न तो बड़े-बड़े काव्यों की सृष्टि के अनुरूप कवियों के पास अवकाश है और न पाठकों के पास ही वह अवकाश और आकांक्षा। वस्तुतः ध्वनि काव्य अथवा मुक्तक काव्य के महत्त्व की वृद्धि के साथ ही प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के प्रति कवियों में (कुछ की बात छोड़ दीजिए) वैसा उत्साह भी नहीं जैसा प्राचीन कवियों में पाया जाता है। फिर भी सिद्धांत रूप में यह बात सत्य ही है कि प्रकृति के प्रति कवि का छलछलाता हुआ प्रेम केवल संश्लिष्ट प्राकृतिक वर्णनों में ही पाया जाता है। अब यह सिद्धांत-चर्चा की बात अलग रही कि काव्य में ऐसे वर्णन होने चाहिएँ या नहीं। बहुत से आलोचक कहते हैं (जैसे आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि) कि होने चाहिएँ, और बहुत से (जैसे रवीन्द्र बाबू तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि) कहते हैं कि नहीं—कविता कविता है, चित्रकला नहीं। जो हो, तथ्य यह है कि काव्य में ऐसे वर्णन होते आये हैं और उनसे कवि के विस्तृत और प्रगाढ़ प्रकृति-प्रेम का परिचय भी मिलता है। यह प्रकृति-प्रेम किन बातों के आधार पर सूचित होता है? यह होता है इन बातों से—(१) दृश्य-चित्रण में कवि ने कितनी बारीकी से वस्तु-व्यापारों को देखा है—चित्रकार की तरह आंख गड़ाकर? प्रकृति के रंग-रूपों, आकार-प्रकारों, ध्वनियों आदि को कितनी सूक्ष्मता के साथ हृदयंगम करके उनका चित्रण किया है? समुद्र, मैदान, रेगिस्तान, पहाड़, जंगल आदि कितने भू-प्रदेशों का वर्णन किया है? क्या कोमल और कठोर—प्रकृति के दोनों ही रूपों का चित्रण किया है अथवा केवल कोमल या केवल कठोर रूप तक ही वह सीमित रह गया है? क्या भव्य और साधारण—प्रकृति के इन दोनों पक्षों में उसकी दृष्टि गई है, या केवल भव्य या केवल साधारण तक ही वह सीमित रह गया है, आदि आदि।

कवि का प्रकृति के प्रति अनुराग [illegible]

इन दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में मानव गौण है और प्रकृति ही मुख्य; यह ध्यान देने की बात है।

'प्रसाद' ने प्रकृति की दोनों ही प्रकार की अभिव्यक्ति की है—चित्रण द्वारा और भाव-व्यंजना द्वारा।

प्रकृति के कोमल रूपों के चित्रण की दृष्टि से महाक्रीड़ा, रजनीगन्धा, मलिना, जल-विहारिणी, एकान्त में, निशीथ नदी, चित्रकूट आदि 'कानन-कुसुम' की कविताएँ 'प्रसाद' के आरम्भिक काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी हैं। 'करुणालय' और 'प्रेम पथिक' में भी कुछ अच्छे चित्र मिलते हैं। कोमल प्रकृति का विस्तृत चित्र 'कामायनी' में अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक चित्रित हुआ है। जैसे—

"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं दूर दूर तक फैल रहीं;
शरद इंदिरा के मन्दिर की मानो कोई गैल रही।"

× × ×

"संध्या घनमाला की सुन्दर ओढ़े रंग-बिरंगी छींट;
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ पहने हुए तुषार किरीट।"

× × ×

"धवल मनोहर चन्द्र बिम्ब से अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा पुलकित हो पावन उद्गीथ।"

—कामायनी : आशा सर्ग

"वह चन्द्रहीन थी एक रात, जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात;
उजले उजले तारक झलमल, प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल;
धारा बह जाती बिम्ब अटल, खुलता था धीरे पवन पटल;
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत, सुनती जैसे कुछ निजी बात।"

—कामायनी : दर्शन सर्ग

प्रकृति के कठोर रूपों का चित्रण भी यत्र-तत्र मिल जाता है—जैसे 'कानन-कुसुम' की 'ग्रीष्म का मध्याह्न' नामक कविता में, 'महाराणा का महत्त्व' के आरम्भिक दृश्य में, तथा 'कामायनी' के प्रलय वर्णन (चिंता सर्ग) में। कामायनी-गत प्रकृति के भीषण-कठोर रूप (प्रलय) का चित्रण हिन्दी-काव्य तो

क्या, विश्व-साहित्य की भी एक अनूठी वस्तु है। प्रलय की प्रचंड भयंकरता का रोमांचक दृश्य देखिए—

"हा-हाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर;
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।
दिग्दाहों के धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के!
सघन गगन में भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।
अंधकार में मलिन मित्र की धुँधली आभा लीन हुई;
वरुण व्यस्त थे, घनी कालिमा स्तर-स्तर जमती पीन हुई।
पंचभूत का भैरव मिश्रण शंकाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी।"

—कामायनी : चिन्ता सर्ग

इस प्रकार इन वर्णनों के द्वारा कवि की दृश्य में तल्लीनता, उनका निरीक्षण व वांछित भाव-संचार की क्षमता का सुन्दर परिचय मिलता है। इस प्रकार के छोटे-मोटे चित्र कवि की कृतियों में प्रायः सर्वत्र ही बिखरे हुए मिलेंगे।

प्रकृति के निरीक्षण व प्रासंगिक सामीप्य में रहने के परिणामस्वरूप जो उल्लास, कौतूहल, आह्लाद आदि की भावना मन में उत्पन्न होती है वह भी 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'झरना' आदि रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्रकट हुई है। जैसे—

"मधुप माधविका कुसुम से कुंज में, मिल रहे, [illegible],
आज इस हृदयाब्धि में, [illegible]। [illegible] —
शीतकर शतशत उदय होने लगे।
तारिकायें नील नभ में [illegible]।
[illegible]।
[illegible]।
[illegible]।"

[illegible]

[illegible]

ही है, किन्तु इस भावना में आनन्दमयी प्रकृति के प्रति कवि का अनुराग भी निहित है।

इतना सब होते हुए भी, प्रकृति-निरूपण के क्षेत्र में, आलम्बनगत प्रकृति-चित्रण कवि का वास्तविक क्षेत्र नहीं, क्योंकि प्रकृति उसको मनुष्य के संदर्भ में ही प्रिय है, अपने आप में उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं।

आचार्यों ने प्रकृति को मुख्यतः शृंगार रस के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है। 'प्रसाद' ने भी यही किया है। पर उन्होंने इस ग्रहण में केवल रूढ़ि का निर्जीव पालन न करके उसको वास्तविक अथवा हार्दिक अनुभूतियों के सत्य व सौंदर्य से रसार्द्र व सजीव कर दिया है। यह मनोविज्ञान का सत्य है कि सारी सृष्टि हमें अपने मन के रंग में रंगी हुई दिखाई पड़ती है—सुख में अथवा प्रिय-मिलन में थिरक-पुलकमयी, चमचमाती और रंगीन और दुःख में अथवा वियोग में क्लान्त,विषादपूर्ण, भयंकर और दाहक ! (आचार्य शुक्ल इस विषय में कहते हैं कि प्रकृति को सदा अपने मन के रंग में ही रंगी हुई देखा तो क्या देखा ! यह मनुष्य का स्वार्थ मात्र है यह बात आदर्श दृष्टि से ठीक है। किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य को भी तो—जो शायद मनोजगत् में या आज के यथार्थ जगत् में अधिक सत्य समझा जा रहा है—कवि अस्वीकार कैसे करे !) 'प्रसाद' के काव्य में प्रकृति का अधिकांश प्रयोग उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पड़ता है। 'झरना', 'आँसू' और 'लहर' में प्रकृति का इसी रूप में भरपूर प्रयोग हुआ है। विरह में प्रकृति का यह भावोद्दीपन देखिए—

"कर गई प्लावित तन मन सारा। एक दिन तव अपांग की धारा ॥
हृदय से झरना—वह चला, जैसे दृगजल ढरना ।
प्रणय वन्या ने किया पसारा । कर गई प्लावित तन मन सारा।"

—झरना

"बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी दिखलाई देती लूटी।"

× × ×

"किंजल्क जाल हैं बिखरे, उड़ता पराग है रूखा,
है स्नेह सरोज हमारा विकसा, मानस में सूखा।"

× × ×

"व्याकुल उस मधु-सौरभ से मलयानिल धीरे-धीरे,
विश्वास छोड़ जाता है अब विरह-तरंगिनि तीरे।"

× × ×

"शीतल समीर आता है कर पावन परस तुम्हारा,
मैं सिहर सिहर उठता हूँ बरसा कर आँसू-धारा।" —आँसू

× × ×

"प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर,
नृत्य-शिथिल बिछली पड़ती है वहन कर रहा उसे समीर,
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?" —लहर

इसी प्रकार मिलन में भी प्रकृति के द्वारा प्रणयी हृदय का भावोद्दीपन देखिए—

इस हमारे और प्रिय के मिलने में, स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा;
कोकिलों का स्वर विपञ्ची नाद भी, चन्द्रिका, मलयजपवन, मकरन्द औ
मधुपमाधविका कुसुम से कुञ्ज में, मिल रहे, सब साज मिलकर बज रहे।"

यह है प्रकृति का उद्दीपक रूप। इन उदाहरणों से कई तथ्य प्राप्त होते हैं—
(१) कवि का दृष्टिकोण मानवीय है। मन में दुःख है तो सारी प्रकृति आनन्द-दायी व सरस होते हुए भी उसके लिए तो दारुण ही है। मन में यदि आनन्द है तो सारी प्रकृति पूर्ण हर्षोत्फुल्ल दिखाई पड़ती है। सुख-दुःख के परे होकर, भाव-शून्य हो, प्रकृति के साथ भाव-विनिमय न करना उसके लिए [illegible] है। वह मानव है और मानवीय सुख-दुःख के बीच रहकर ही आनन्द या [illegible] का अनुभव करना चाहता है। (२) अपने मन के रंग में प्रकृति को [illegible] मनो-वैज्ञानिक सत्य है और कवि इसी सत्य को [illegible] में रखता [illegible]। (३) कवि किसी गम्भीर व [illegible] अनुभूति के [illegible] में घूमा है। कवि की अभिव्यक्ति विरह-वर्णन में [illegible] स्पष्ट ही नहीं है किन्तु वह एक गम्भीर, [illegible] अनुभूति से [illegible] भी है।

'प्रसाद' के [illegible] प्रयोग [illegible] दिखाई पड़ेगा।

अलंकार-प्रतीक के रूप में प्रकृति के प्रयोग का निरूपण आगे किया जायगा। मानवीकरण के सम्बन्ध में ऊपर सिद्धान्त-रूप में यथावश्यक चर्चा हो ही चुकी है। दो-एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे—

"निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।×××
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी सन्ध्या-संगीत को।×××
हँसती है वासना की छलना पिशाची सी
छिपकर चारों ओर व्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती संकेत हैं व्यंग्य उपहास में।"

—'लहर' : प्रलय की छाया

"सिंधु-सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रणय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी, ऐंठी सी।"

—'कामायनी' : आशा सर्ग

ऊपर के उदाहरणों में समुद्र-तट की बालू की वेला, आकाश की लाली, वासना की छलना (अन्तःप्रकृति) और पृथ्वी का अत्यन्त सुन्दर मानवीकरण किया गया है। सबके द्वारा इस प्रकार के आचरण कराये गये हैं मानो मानव अपने पारस्परिक व्यवहारों में करते हों। इस प्रयास में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य निहित हैं, जैसे—(१) प्रकृति में चेतना का आरोप तो स्पष्ट ही है, अन्यथा जड़ प्रकृति चेतन मानव के समान आचरण कर ही कैसे पाती ?(२) कवि की मौलिक कल्पना के सुन्दर दर्शन होते हैं। निर्जन जलधि वेला का अनुरागमयी संध्या से सौरभ-भरी रंग-रलियाँ सीखना, अरुणिमा का संध्या-संगीत पीना (दूध, पानी या शर्वत पीया जाता है, संगीत कभी पीया नहीं जाता—लाक्षणिक प्रयोग), वासना की छलना (वासना का भाव वैसे ही सूक्ष्म है, पर कवि को उस सूक्ष्म के मानवीकरण से ही संतोष नहीं हुआ। वह और आगे बढ़ा और चित्र को और महीन बनाने के लिए उसने 'वासना की छलना' का मानवीकरण किया।) का व्यंग्य-उपहास से क्रीड़ापूर्वक संकेत करना (कितनी सुन्दर नाटकीय स्थिति निहित है।) और पृथ्वी का वधू की तरह मान करना (प्रथम प्रणय-निशा का संजीव चित्र व सांग रूपक का सौंदर्य स्पष्ट है।)—इन सब

व्यापारों के द्वारा कवि की मानवीकरण कला का भव्य कौशल तथा वस्तु-व्यापारों की मौलिक व रमणीय स्वतन्त्र योजना करनेवाली कल्पना का उत्कर्ष प्रकट हुआ है। (३) बाह्य प्रकृति (वेला, अरुणिमा तथा धरा) तथा अन्तः प्रकृति (वासना की छलना)--दोनों का ही मानवीकरण किया गया है। (४) शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग तो स्वतः स्पष्ट है क्योंकि शब्द अपने प्रचलित अर्थों को छोड़कर नया और अधिक सुन्दर अर्थ ग्रहण कर रहे हैं। (५) इस मानवीकरण में सूक्ष्म पात्रों में अनुभावों या शारीरिक चेष्टाओं की भी सुन्दर कल्पना की गई है।

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकृति के प्रयोग पर आगे चलकर विस्तृत विचार होगा।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो सारी सृष्टि एक व्यापक ईश्वरीय नियम और मर्यादा के अनुसार कार्य कर रही है। सीमित बुद्धि और कल्पना वाले मानव पूर्वापर सम्बन्ध के क्रम से जीवन के घटना-व्यापारों का भले ही संतोष-जनक विश्लेषण न करके भाग्य, नियति, प्रारब्ध आदि अदृश्य, अंध व अज्ञात शक्तियों को आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो ले, किन्तु प्रकृति में स्थूल-सूक्ष्म सभी घटनाओं के पूर्ण तर्कसम्मत उत्तर विद्यमान हैं। अंतर केवल यही है कि जहाँ वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि अपनी बुद्धि और भावना के बल पर इस सनातन कारण-कार्य शृंखला का अन्वेषण कर रहे हैं, शुद्ध धार्मिक जन उसे चुपचाप स्वीकार कर 'शॉर्ट कट' ले लेते हैं। यह अन्तर उतना [illegible] नहीं। इसके पीछे तथ्य केवल इतना ही है कि प्राकृतिक विश्व के मूल में नियमन करने वाली एक सनातन नैतिक व्यवस्था (moral order) के अस्तित्व का आभास देती है—आस्तिकवादी अर्थात् भक्त उसे प्रकृति में ही [illegible] मान लेते हैं और नास्तिक वस्तुवादी [illegible] हो जाते हैं। इस नैतिक व्यवस्था में विद्यमान हो रहे हैं—समता, विश्व-प्रेम, सहानुभूति, [illegible] दया, क्षमा, सहिष्णुता, त्याग आदि उच्च मानवीय [illegible] विश्वास। प्रकृति के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

है। अनुभूति और चिन्तन के उसी धरातल पर आकर अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने कहा था—

One impulse from a vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil ,and of good,
Than all the sages can.

'प्रसाद' के समस्त प्रकृति-निरूपण में (नाटकों में 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी', 'कामना' आदि में विशेषतः) उपर्युक्त नैतिक व्यवस्था की स्वीकृति प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में प्रायः सर्वत्र ही दिखाई पड़ती है—यद्यपि शुद्ध कलाकार या कवि के रूप में ही (कवि कीट्स की तरह) 'प्रसाद' की दृष्टि प्रकृति पर अधिक रहती है। आदर्शवादी 'प्रसाद' प्रकृति से जो नैतिकता ग्रहण करते हैं उसका प्रकाशन सार रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

"क्षणभंगुर सौंदर्य देख कर रीझो मत, देखो ! देखो !!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है—
ऊपर देखो, नील गगनमण्डल में चमकीले तारे,
नीचे हिम के बिंदु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते,
मधुर मस्त कल-कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है,
तुंग मनोहर शृङ्गों से सौन्दर्यमयी विमला धारा।

× × ×

स्निग्ध, शांत, गम्भीर, महा सौंदर्य सुधासागर के कण,
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है !"

—प्रेम-पथिक

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त उद्धरण का भाव नैतिकता तथा आदर्श के ताने-बाने से ही बुना गया है। प्रकृति की मौन धर्मोपदेशकता का मर्म ग्रहण करते हुए भी, 'प्रसाद' ने प्रकृति के एजेंट या लोक के धर्मगुरु की तरह कहीं भी कोई रूखे व नैतिक उपदेश नहीं दिये हैं। हाँ, प्रकृति के माध्यम से कवि आरम्भिक कृतियों में ऐसी बातें अवश्य कह उठा है—

"निवास जल ही में है तुम्हारा, तथापि मिश्रित कभी न होते,
'मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे'—सुपाठ तुमसे ये मिल रहा है,

उन्हीं तरंगों में ही अटल हो, जो करना विचलित तुम्हें चाहतीं,
'मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो,—ये भाव तुम में अटल रहा है।"

—'कानन-कुसुम' की 'सरोज' नामक कविता

प्रकृति की नैतिक चेतना कवि के दृगंचलों में से होती हुई उसके कंठ से सरस काव्य-माधुरी बनकर प्रवाहित हो गई है।

पृष्ठभूमि और वातावरण-निर्माण के लिए भी प्रकृति का उपयोग होता है। पृष्ठभूमि के रूप में जो प्रकृति-वर्णन होता है वह ऐसा होता है मानो फोटो की एक सुन्दर फ्रेम अथवा कमीज का कालर, जो केवल फोटो या कमीज की शोभा-वृद्धि करते हैं और जिनके न होने से फोटो या कमीज की उपयोगिता को कोई क्षति नहीं पहुँचती। ऐसे वर्णन प्रायः संक्षिप्त होते हैं और शुद्ध प्रकृति-प्रेम से प्रेरित होकर किये जाने वाले विस्तृत और रसात्मक प्रकृति-वर्णनों से थोड़ा सा विचार करने पर, सहज ही पृथक् किए जा सकते हैं। 'कामायनी' के 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्गों के आरम्भ का प्रकृति-चित्रण 'पृष्ठभूमि' के रूप में लिया जा सकता है।

प्रकृति की सहायता से वातावरण की जो सृष्टि की जाती है वह काव्यगत पात्रों के जीवन पर उसका सत् अथवा मांगलिक प्रभाव दिखाने के उद्देश्य से ही। स्पष्ट है कि प्रकृति की पृष्ठभूमि से प्रकृति का वातावरण का काव्य अथवा उसके पात्रों से, अधिक गहरा और जीवंत सम्बन्ध है। पात्र प्रकृति की उन्मुक्तता, स्वच्छन्दता, शांति और स्वास्थ्यपूर्ण भौगोलिक परिवेश में अपने चरित्र का परिष्कार या उसमें अपना उत्कर्ष कर सकने में समर्थ होते हैं। 'कामायनी' में वर्णित हिमालय प्रदेश की पावनता, शीतलता व शांति पात्रों के चरित्र पर गम्भीर प्रभाव डालती है। 'कानन-कुसुम' की 'चित्रकूट' तथा 'भरत' आदि कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'प्रेम-पथिक' में प्रकृति का सारा वातावरण ही मुख्य पात्र के स्वरूप को गढ़ता है।

इस प्रकार प्रकृति 'प्रसाद'-काव्य की धड़कती हुई चेतना है। वह 'प्रसाद' के काव्य के समस्त सौंदर्य और रस-चेतना की विधात्री है। वही उसकी लोच, तरावट और मिठास है।

: ५ :

'प्रसाद'-काव्य में प्रेम और सौन्दर्य

प्रेम अव्यक्त-अचिंत्य निर्गुण ब्रह्म की आदि स्फुरणा, सृष्टि की मूल प्रेरणा और जगत् की प्रथम संचालक शक्ति है। कीरी से कुंजर तक जितने भी जीव हैं, सब इसकी उत्ताल हिल्लोल के प्रवाह में प्रवाहित हो रहे हैं। इतना ही नहीं जड़ जगत् के पदार्थ भी प्रेम की मोहिनी के वशीभूत हो रस और आनन्द के महोत्सव में सम्मिलित हो रहे हैं, मानो प्रेम का अनुभव करके रस-तृप्त हो कर इस विश्व से लौटने के अतिरिक्त किसी का (जड़ और चेतन दोनों का) कोई भी अन्य कर्त्तव्य नहीं। जैसे परम शक्तिशाली वेग लेकर बाण धनुष से छूटता है इसी प्रकार यह सृष्टि प्रेम का अखण्ड और अपार वेग लेकर छूट पड़ी है। अत्यन्त तुच्छ और लघु वट-वृक्ष के गर्भ में निहित शक्ति चेतना तो एक विशाल विराट् वृक्ष को फला-फूला और फैलाकर पृथ्वी में ही कहीं लुप्त हो जाती है किन्तु प्रेम की ही यह मूल शक्ति उस वट बीज से कई लाख गुणा छोटी होकर भी सृष्टि को इतना लम्बा जीवन, इतने रूप-व्यापार, चमक-दमक, थिरक-पुलक स्वर-ताल देकर भी मानो अब तक जीवित है, और यह पसारा समाप्त होने के बाद भी मानो वह अक्षुण्ण ही बनी रहेगी। जिसकी स्फुरणा और प्रेरणा से निर्गुण ब्रह्म ने सगुण होकर सृष्टि की अखण्ड व आनन्दमयी लीला-रास रचने की आयोजना की, वह मूल चेतना, शक्ति, स्फुरणा या प्रेरणा कैसी अमर, कैसी महाप्राण और कैसी अदम्य होगी। कवि 'प्रसाद' ने उस आदि-शक्ति के नयनोन्मीलन और उछाह का कैसा यथार्थ और कमनीय कल्पना से समन्वित-चंचल चटकीला चित्र अंकित किया है—

"वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये ;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिये।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से मिलने को गले ललकते से ;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव में विद्युत् कण मिले झलकते से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ प्रारम्भ माधुरी छाया में ;
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी मतवाली अपनी माया में। × × ×

भुज लता पड़ी सरिताओं की शैलों के गले सनाथ हुए ;
जलनिधि का अंचल व्यजन बना धरणी का, दो दो साथ हुए। × × ×
यह लीला जिसका विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला;
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।"

—कामायनी : काम सर्ग

चेतन जीव के पहले जड़ प्रकृति ही सर्वत्र व्याप्त थी। उसमें ही जब प्रेम की चेतना रंगों की पिचकारियाँ छोड़कर क्रीड़ा कर रही थी तो कालान्तर में सृष्टि विकास के क्रम में चेतना के एकच्छत्र उत्तराधिकारी मानव के भाग्य में तो भविष्य के लिए कितने रस और उल्लास की निधि सुरक्षित पड़ी थी। अंग्रेज कवि शैली (Shelley) अपने प्रिय पर प्रेम का अधिकार जताने के लिए, चारों ओर की प्रकृति में जीवित और सक्रिय प्रेम की ही साक्षी देता है—

"The fountains mingle with the river
And the rivers with the ocean,
The winds of heaven mix for ever
With a sweet emotion;
Nothing in the world is single,
All things by a law divine
In one another's being mingle—
Why not I with thine?

See the mountains kiss high heaven
And the waves clasp one another;
No sister-flower would be forgiven
If it disdain'd its brother:
And the sunlight clasps the earth,
And the moonbeams kiss the sea—
What are all these kissings worth,
If you kiss not me?"

(Love's Philosophy)

इस मनुहार और साक्षी में, चराचर जगत् में, शरीर की नाड़ी के समान धड़कती, एक अखण्ड और चिर-जाग्रत प्रेम-चेतना का स्पंदन और संचार जिस सुन्दरता के साथ व्यक्त किया गया है उसकी व्याख्या करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

मानव-प्राणी में भी प्रेम की यह भावना आदि काल से ही, उसके हृदय

की धड़कन और रक्त की लाली वनकर जीवित है। जहाँ और सब लोग उसका अनुभव करके ही मौन हो जाते हैं वहाँ कवि अपने उस अनुभव को छन्दोवद्ध करके हल्का होता है और संतोप-लाभ करता है। जीवन की तरह साहित्य की भी मूल प्रेरणा प्रेम ही है। संसार के साहित्य का वृहदंश प्रेम से हो निर्मित हुआ है। प्रेमानुभव के दो पक्ष हैं—विरह और मिलन। साहित्य में मिलन और संयोग की अभिव्यक्ति उतने परिमाण में नहीं मिलती जितनी विरह की। उत्तर इसका मनोवैज्ञानिक है। मिलन की तृप्ति के साथ ही वह मानसिक उमड़-घुमड़, गर्जन-तर्जन, उमंग-उछाह आदि नहीं रहते जो विरहानुभूति की स्थायी सम्पदा हैं और जो अपने वेग और प्रेरणा से प्राणवान् व अमर काव्य के सृजन के लिए कवि को झंझोड़ डालते हैं, उसे विवश कर देते हैं। एकनिष्ठ और विश्वासपूर्ण प्रेम में विरह की व्यथा और व्याकुलता अपने चरमोत्कर्प में कवि को आत्मा के प्रदेश में उठा—उड़ा—ले जाती है। इस प्रकार विरह आत्मा-दर्शन का सोपान वनकर कवि के लिए अमर वरदान प्रमाणित हो जाता है। प्रायः यही लौकिक व्यथा-वेदना अपनी उड़ान में आध्यात्मिक वन जाती है और वह काव्य विशेप भावुकों के लिए और भी आकर्पक और महिमावान् हो उठता है।

लक्ष्य-भेद से प्रेम दो प्रकार का कहा जाता है—स्वकीय व परकीय। चिर-परिचिति के कारण स्वकीय प्रेम में वैसी तीव्रता, आकर्पण और वेग नहीं समझा जाता (अनुभव में भी आता ही है!) जितना परकीय में। किन्तु सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन-स्वरूप समाज में विकार-वृद्धि की आशंका से भारतीय साहित्याचार्यों ने परकीय प्रेम की छूट केवल भक्ति-काव्य अथवा आध्यात्मिक-काव्य के लिए ही स्वीकार की है, लौकिक प्रेम सम्वन्धी काव्य के लिए नहीं। हाँ, यह दूसरी वात है कि कवि यदि लौकिक अनुभूति को व्यक्त करके सुखानुभव करने के उद्देश्य से उसे रहस्यवादी या आध्यात्मिक वनाकर प्रस्तुत करे तो वह पकड़ में भी नहीं आ सकता और साहित्याचार्यों, नीति-विशारदों और धर्म गुरुओं का कोप-भाजन भी नहीं वन सकता। अव धार्मिक (स्थूल अर्थ में) युग तो रहे नहीं, सामाजिक-राजनीतिक युग में रहस्य और अध्यात्म का इतना सा पर्दा तो चाहिए ही!

प्रेम के साथ ही सौंदर्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। सौंदर्य का मुख्य गुण

है आकर्षण। आकर्षण-विकर्षण की क्रिया-प्रतिक्रिया अणु-परमाणु में प्रत्येक क्षण चल रही है। कब कौनसा अणु किस अणु को खींच ले, कुछ पता नहीं। इतनी लम्बी-चौड़ी सृष्टि में एक हृदय वास्तव में एक ही बार सच्चे आकर्षण की प्रेरणा से किसी दूसरे हृदय की ओर खिचता है। दो परमाणुओं की तरह दो हृदय यदि अपनी चुम्बकीय शक्ति से परस्पर खिच गये, मिल गये और एक हो गये तो ठीक है अन्यथा सौंदर्य का आकर्षण और प्रेम की तृष्णा लिये, आत्मा की पूर्णता की प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक माँग के लिए, हृदय का अनवरत कुहराम आरम्भ हो जाता है। वस्तुतः यह कार्य आत्मा के ही आदेश-निर्देश से होता है क्योंकि आत्मा की पूर्णता का अनुभव किए बिना अपने कुम्भकार के पास लौटना अक्षम्य अपराध है। डार्विन (Darwin) ने प्राकृतिक चुनाव की जो बात कही है वह यही है। आत्मा का चुनाव और समाज का चुनाव—दो में से आत्मा का चुनाव ही सुख-शान्ति का कारण होता है। किन्तु जहाँ समाज के बीच में पड़ने पर भी आत्मा की आकांक्षा और आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती वहाँ फिर दिवा-स्वप्नों में एक आदर्श रमणीय नवनीत पुतली गढ़ी जाने लगती है। सामाजिक चुनाव और आत्मिक चुनाव में जहाँ तादात्म्य हो जाता है वहीं आनन्द और मंगल की वर्षा होती है। इस प्रकार का चुनाव सहज-सुलभ हो सके, यही आदर्श समाज का मानदण्ड कहा जा सकता है।

सौंदर्य का आकर्षण मन में प्रेम-ज्वाला सुलगा देता है। पर, यह सौंदर्य सदा रूप का ही पर्याय नहीं होता। रूप और सौंदर्य में अंतर है। रूप बाहरी होता है जब कि सौंदर्य भीतरी। सच्चा सौंदर्य आत्मा के रस, विश्वास व एकनिष्ठा पर निर्भर करता है। आत्मिक प्रेम के ही अनुपात में सौंदर्यानुभूति की तीव्रता व गहनता रहती है, बाहरी रूप क्षीण होता जाता है किन्तु आत्मा की आँखों से देखा जाना सौंदर्य प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। कोई अत्यन्त रूपवती रमणी दुःशीलता के कारण पूर्ण आकर्षणशून्य हो सकती है जबकि शीलवती व सरला श्यामा बाहरी चमचमाहट के अभाव में भी चुम्बक लिये रहती है। भीतरी गुणों के साथ बाहरी चाँदनी भी हो तो क्या कहना! पर, है आत्मा ही मुख्य, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार प्रेम और सौंदर्य का वास्तविक सम्बन्ध आत्मा के नाते ही भली भाँति स्थापित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रेम और सौंदर्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जो मोटे तौर पर प्रेम का

विषय साहित्य के स्थायी भाव 'रति' पर आधारित 'शृंगार रस' से सम्बन्धित है और 'सौंदर्य' शृंगार रस के आलम्बन का गुण-धर्म। पर विचार करने पर इन दोनों का क्षेत्र अत्यन्त विशाल दिखाई पड़ेगा। प्रेम के अन्तर्गत दाम्पत्य, भक्ति, पूज्य पुरुष अथवा गुरु-विषयक प्रेम, राष्ट्रविषयक प्रेम, प्रकृतिविषयक प्रेम, मानव विषयक प्रेम, मित्रविषयक प्रेम, पदार्थविषयक प्रेम, और सूक्ष्म (ज्ञान, कल्पना, आत्मा, विचार आदि) विषयक प्रेम--सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। पर साहित्य की रूढ़ि तथा जीवन के अनुभव के आधार पर प्रणय अथवा दाम्पत्य-प्रेम ही प्रेम का केन्द्रीय विषय ठहरता है क्योंकि शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक ऐक्य अथवा पारस्परिक विलय की जैसी स्थिति इस प्रकार के प्रेम में होती है वैसी अन्यत्र नहीं। स्वयं भक्ति-प्रेम में भी दाम्पत्य प्रेम की ही आत्मा एक विशेष सूक्ष्म धरातल पर कार्य करती रहती है। हां, इस प्रेम (दाम्पत्य) के अतिरिक्त अन्य प्रेम-रूपों में भी अत्यन्त उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा देखी जाती है। किन्तु मनोविज्ञानशास्त्र, प्राणिशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि की सहायता से जीवन और साहित्य का केन्द्रीय विषय दाम्पत्य प्रेम ही ठहरता है और प्रेम प्रायः दाम्पत्य प्रेम अथवा प्रणय का ही पर्याय होता है। इस प्रेम का प्रभाव अन्त-र्जगत् और बहिर्जगत् पर इतना गहरा होता है कि इसके प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार तथा इसकी गतिविधि की सूक्ष्मता-गहनता को ध्यान में रखते हुए ही आचार्यों ने इसे 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया है। दुरुपयोग से यह प्रेम जहां अधोगामी भी हो सकता है वहाँ मन के उच्च गुणों के संयोग से यह आनन्द-स्वरूप व प्रेमस्वरूप ईश्वर का भी साक्षात्कार करा सकता है। इस प्रेम अथवा शृंगार रस की इसी क्षमता व संभावना को ध्यान में रखते हुए ही साहित्या-चार्यों ने इसे उज्ज्वल रस, मधुर रस अथवा रसराज कहा है।

इसी प्रकार सौंदर्य का क्षेत्र भी अत्यन्त विशाल है। जो कुछ भी आत्मा के लिए वरणीय व आकर्षक है, वह सुन्दर है। निश्चय ही केवल मानव-शरीर तक ही 'सौंदर्य' शब्द सीमित नहीं रखा जा सकता—हाँ, यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्ति-विशेष में हमारी सौंदर्य-भावना को विश्राम मिलने पर शेष सृष्टि हमारे लिए सुन्दर हो उठे। इस दृष्टि से 'सौंदर्य' का प्रसार मानव-क्षेत्र से आगे भी है; वह इतने क्षेत्रों तक और फैला हुआ दिखाई पड़ता है--(१) आंतरिक सौंदर्य अथवा शील, (२) प्रकृति-सौंदर्य, तथा (३) कलागत सौंदर्य। शील तथा

प्रकृति-सौंदर्य तो स्पष्ट ही हैं। कला का सौंदर्य कला की कृतियों के अनुशीलन से व कल्पना की सहायता से मानसिक नेत्रों को प्रत्यक्ष हो सकता है।

प्रेम की मूल स्फुरणा, उद्‌गम तथा प्रेरणा, प्रेम की चराचरव्यापी सत्ता, प्रेम-सौंदर्य का स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके प्रकार आदि की इस छोटी सी पृष्ठभूमि में भी 'प्रसाद' के काव्यगत प्रेम-सौंदर्य-निरूपण पर दृष्टि डालना उपादेय होगा। 'प्रेम' 'प्रसाद'-काव्य का अत्यन्त वज़नदार तत्त्व है। 'प्रसाद' के प्रेम-निरूपण को देखकर उनकी अनुभूति की तीव्रता, हृदय की विदग्धता, भाव-विचार की उदात्तता, कल्पना की रमणीयता और शैली की प्रौढ़ता व मौलिकता से प्रभावित हुए विना कोई रह नहीं सकता। कविता ही क्या, उनके समस्त साहित्य में 'प्रेम' उनका मुख्य विषय है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि संसार के साहित्य का वृहदंश दाम्पत्य प्रेम ही है, इस नाते हिन्दी भी इसका अपवाद नहीं। 'प्रसाद' प्रेम, रूप, सौंदर्य और विलास के कवि कहे गये हैं। तो जिज्ञासा होती है कि वे कौनसी मौलिक विशेषताएँ हैं जिनके कारण 'प्रसाद' एक समर्थ, सशक्त व मौलिक प्रेम-कवि के रूप में पहचाने जाते हैं और जो उनकी कृतियों में निहित उनकी कीर्त्ति का अक्षय आधार है। क्या स्थायी-संचारी, आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन वाले शास्त्रीय चौखटे में फिट होने के कारण इनके प्रेम-काव्य का महत्त्व है अथवा कुछ ऐसे विरल तत्त्व से इनका काव्य उजागर है जो अन्यत्र कुछ दुर्लभ है। इस विवेचना में ही प्रस्तुत विषय का प्रतिपाद्य निहित है।

हमारी समझ में 'प्रसाद' का प्रेम काव्य उनके एक व्यवस्थित व मौलिक जीवन-दर्शन के आधार पर खड़ा हुआ है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पीपल के पत्ते के व्यवस्थित स्नायु-जाल पर पत्ते की चिकनी व सरस हरियाली मढ़ी रहती है। 'प्रसाद' ने अपनी मूल रोमांटिक जीवन-दृष्टि और विविध दर्शनों और शास्त्रों को अपनी मेधा से छानकर प्राप्त की हुई दार्शनिक दृष्टि—इन दोनों के योग से एक व्यापक विचारधारा तैयार की है। ऐसा जान पड़ता है कि 'प्रसाद' दार्शनिक जगत् के अतिवादों से बड़े क्षुब्ध थे क्योंकि वे अतिवाद प्राकृतिक प्रेरणा से निर्मित सहज जीवन के स्वरूप पर ही बलात्कार करने वाले तथा जीवन में विषमताओं व विडम्बनाओं की सृष्टि करनेवाले होते हैं। अपने प्रौढ़ महाकाव्य 'कामायनी' तक आते-आते उनके विचार इस सम्बन्ध में पर्याप्त

स्थिर हो चुके थे और उन्होंने घोर तप और घोर विलास दोनों को 'रूल आउट' कर दिया था—

"तप नहीं, केवल जीवन सत्य···" —कामायनी : श्रद्धा सर्ग

कवि ने मानो तनककर पूछा—'क्या होता है कोरा तप ?' तप भी जीवन के लिए होता है। यदि उससे जीवन सुन्दर न बने तो तुम्हारा कोरा तप विडम्बना है ! पंचाग्नि तपो, खेत के बचे कणों को चुनकर खाओ, सूखकर काँटा हो जाओ ! यह कोई तप नहीं—यदि सामने का प्रत्यक्ष जीवन सुन्दर व सरस न हुआ तो ! यदि कोई कहे परजन्म के लिए, तो फिर और सुन लीजिए—

"प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्त्तमान का सुख छोड़े,
दौड़ चला है बिखराता सा अपने ही पथ में रोड़े।"

—कामायनी : निर्वेद सर्ग

और दूसरी ओर विलास ! यह भी जीवन का भयंकर अतिवाद है ! 'प्रसाद' को यह दूसरी अति भी पसंद नहीं। प्रलय के पश्चात् मनु देव-सृष्टि की उद्दाम विलासिता का स्मरण करते हुए उसके नाश के औचित्य पर मानो सन्तुष्ट से हैं—

"प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में ;
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे ; डूबा उनका विभव, बन गया पारावार ;
उमड़ रहा है देव सुखों पर दुःख जलधि का नाद अपार।"

—कामायनी : चिंता सर्ग

'प्रलय की छाया' नामक 'लहर' की कविता में भी 'प्रसाद' ने इस विलास का पूर्ण पराभव चित्रित किया है।

इस प्रकार कवि ने एक मध्यमार्गी विचारधारा तैयार की है और एक सच्चे रसवादी, जीवनवादी, आनन्दवादी और प्रकृतिवादी की तरह जीवन की प्राकृतिक व मौलिक प्रेरणा के संकेत पर जीवन और सुख के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। ज़ीवन के सर्वांगपूर्ण और स्वस्थ विकास के लिए कवि ने काम और इन्द्रियों का उचित महत्त्व स्वीकार किया है और ऐसा करने में वे उन भारतीय विचारकों से सर्वथा अलग हैं जो लट्ठ लेकर काम की जड़ें सौ हाथ नीचे तक उखाड़ने को कटिबद्ध खड़े हैं। रोमांटिक 'प्रसाद' की साधना मधुर साधना

है जिसमें एक उचित सीमा तक ऐन्द्रियिक सुखों की स्वीकृति है। समस्त 'प्रसाद'-साहित्य में पचासों प्रमाण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। केवल रूखे सत्य की प्राप्ति से वे संतुष्ट नहीं; वे सरस-मधुर, सुन्दर और कल्याणकारी, संक्षेप में, हरे-भरे सत्य के आकांक्षी हैं। वस्तुतः सत्य के इस स्वरूप में ही उसकी मानवी सजीवता (और है भी सब कुछ मानव के ही लिए!) सुरक्षित है। इस मृदुल साधना में भी जीवन के सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति की कवि पक्की गारंटी देता है—

"आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में; विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

× × ×

"स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधा-सागर के कण
ये सब बिखरे है जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है!"

—प्रेम-पथिक

'प्रसाद' का प्रेम अपने मूल रूप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' (Romantic Love) है जिसके लक्षण हैं—हृदयों का स्वस्थ व निश्छद्म आदान-प्रदान, स्वास्थ्य-बल की दीप्ति, सौन्दर्य के प्रति भावुकतापूर्ण आकर्षणवश जग कुतूहल, स्वच्छन्द जीवन-कल्पना, प्रकृति का सामीप्य-साहचर्य, सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों व परम्पराओं से मुक्ति, जीवनोचित स्वप्न आशा, भावुकता-सरसता, सजल सुधियाँ, रंगीन थिरक, मदिर चितवन आदि।"* इन उपकरणों के बिना 'प्रसाद' की दृष्टि में जीवन मानो भरा-पूरा नहीं, सम्पन्न नहीं; कृत्रिम है, अपूर्ण है। इसीलिए आदि से अन्त तक उनके साहित्य अथवा काव्य में ये तत्त्व भरपूर मात्रा में मिलेंगे। आत्मा से संपृक्त भौतिकता की उपेक्षा भी प्रसाद में नहीं मिलेगी। वे तो पृथ्वी पर स्वर्गीय निधियों का इतना आधिक्य पाते हैं कि स्वर्ग चाहे तो यहाँ से ले ले—

"वह अनन्त नीलिमा व्योम की जड़ता सी जो शान्त रही,
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे निज अभाव में भ्रान्त रही।

*विशेष देखिए "हमारा लेख, "प्रसाद-साहित्य में प्रेम और सौंदर्य", 'सरस्वती-संवाद', 'प्रसाद-अंक' (जनवरी-फरवरी, '५८)।

उसे दिखाती जगती का सुख, हँसी और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की हिमगिरि की वह सुघर उठान।"

—कामायनी : आशा सर्ग

हमारी समझ में प्रेम-सम्बन्धी यही समन्वयमूलक, आदर्शवादी, रोमांटिक जीवन-दृष्टि है जो 'प्रसाद' के प्रेम-काव्य का स्वरूप-निर्धारण करके उसे मूल्य व महत्त्व प्रदान करती है। इस दृष्टि के बिना प्रेम-काव्य में वह पौष्टिकता, तरावट और हरियाली आ ही नहीं सकती जो 'प्रसाद' के प्रेम-काव्य के प्रति अद्भुत आकर्षण का मूलाधार है। रस के विविध उपकरणों का तो सभी कवि निरूपण करते हैं; किन्तु भाव व विचार की जो पुष्टि और उसके विन्यास में जो चारुता यहाँ है वह आधुनिक हिन्दी-काव्य में अन्यत्र शायद कुछ कठिनाई से ही मिले। फिर, अनुभूति भी ऊपर के छिछले धरातल की नहीं। वह ऐसी है कि जिसने कवि को आत्म-लीन कर लिया है। कवि जो कुछ कहता है वह बहुत पते की व प्रामाणिक कहता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि 'प्रसाद' की प्रेम-सौंदर्य-सम्बन्धिनी कविता के सारे चमकीले कण इकट्ठे कर लेने पर एक भरा-पूरा तथा व्यवस्थित प्रेम-दर्शन और सौंदर्य-शास्त्र तैयार हो सकता है।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि समस्त अतिवादों को छोड़कर 'प्रसाद' ने जो एक मध्यमार्गी, मानवीय अथवा समन्वयवादी मार्ग ग्रहण किया है उस पर चलते हुए ही उन्होंने मन और आत्मा की वे ऊँचाइयाँ प्राप्त की हैं जो उनकी उच्च साधना की साक्षी हैं। कोरा श्लोक-सूत्र बोलकर रोब जमाने की अपेक्षा अनुभूतियों की शृंखला पार कर जीवन के गूढ़ तथ्यों की प्राप्ति करना वास्तविक उपलब्धि है। प्रस्तुत उदाहरण इस कथन के साक्षी हैं—

"विनिमय प्राणों का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे !
देना हो जितना दे दे तू लेना ! कोई यह न करे !
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,
संध्या रवि दे कर पाती है इधर-उधर उडुगन बिखरे !"

—कामायनी : स्वप्न सर्ग

"पागल रे ! वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर यह विश्व लिये है ऋण उधार,

है जिसमें एक उचित सीमा तक ऐन्द्रियिक सुखों की स्वीकृति है। समस्त 'प्रसाद'-साहित्य में पचासों प्रमाण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। केवल रूखे सत्य की प्राप्ति से वे संतुष्ट नहीं; वे सरस-मधुर, सुन्दर और कल्याणकारी, संक्षेप में, हरे-भरे सत्य के आकांक्षी हैं। वस्तुतः सत्य के इस स्वरूप में ही उसकी मानवी सजीवता (और है भी सब कुछ मानव के ही लिए !) सुरक्षित है। इस मृदुल साधना में भी जीवन के सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति की कवि पक्की गारंटी देता है—

"आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में; विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

× × ×

"स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधा-सागर के कण
ये सब बिखरे है जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है !"

—प्रेम-पथिक

'प्रसाद' का प्रेम अपने मूल रूप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' (Romantic Love) है जिसके लक्षण हैं—हृदयों का स्वस्थ व निश्छद्म आदान-प्रदान, स्वास्थ्य-बल की दीप्ति, सौन्दर्य के प्रति भावुकतापूर्ण आकर्षणवश जग कुतूहल, स्वच्छन्द जीवन-कल्पना, प्रकृति का सामीप्य-साहचर्य, सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों व परम्पराओं से मुक्ति, जीवनोचित स्वप्न आशा, भावुकता-सरसता, सजल सुधियाँ, रंगीन थिरक, मदिर चितवन आदि ।"* इन उपकरणों के बिना 'प्रसाद' की दृष्टि में जीवन मानो भरा-पूरा नहीं, सम्पन्न नहीं ; कृत्रिम है, अपूर्ण है। इसीलिए आदि से अन्त तक उनके साहित्य अथवा काव्य में ये तत्त्व भरपूर मात्रा में मिलेंगे। आत्मा से संपृक्त भौतिकता की उपेक्षा भी प्रसाद में नहीं मिलेगी। वे तो पृथ्वी पर स्वर्गीय निधियों का इतना आधिक्य पाते हैं कि स्वर्ग चाहे तो यहाँ से ले ले—

"वह अनन्त नीलिमा व्योम की जड़ता सी जो शान्त रही,
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे निज अभाव में भ्रान्त रही।

*विशेष देखिए⋯हमारा लेख, "प्रसाद-साहित्य में प्रेम और सौंदर्य", 'सरस्वती-संवाद', 'प्रसाद-अंक' (जनवरी-फरवरी,' ५८)।

है जिसमें एक उचित सीमा तक ऐन्द्रियिक सुखों की स्वीकृति है। समस्त 'प्रसाद'-साहित्य में पचासों प्रमाण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। केवल रूखे सत्य की प्राप्ति से वे संतुष्ट नहीं; वे सरस-मधुर, सुन्दर और कल्याणकारी, संक्षेप में, हरे-भरे सत्य के आकांक्षी हैं। वस्तुतः सत्य के इस स्वरूप में ही उसकी मानवी सजीवता (और है भी सब कुछ मानव के ही लिए !) सुरक्षित है। इस मृदुल साधना में भी जीवन के सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति की कवि पक्की गारंटी देता है—

"आत्मसमर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में; विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

× × ×

"स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य सुधा-सागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है !"

—प्रेम-पथिक

'प्रसाद' का प्रेम अपने मूल रूप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' (Romantic Love) है जिसके लक्षण हैं—हृदयों का स्वस्थ व निश्छद्म आदान-प्रदान, स्वास्थ्य-बल की दीप्ति, सौन्दर्य के प्रति भावुकतापूर्ण आकर्षणवश जग कुतूहल, स्वच्छन्द जीवन-कल्पना, प्रकृति का सामीप्य-साहचर्य, सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों व परम्पराओं से मुक्ति, जीवनोचित स्वप्न आशा, भावुकता-सरसता, सजल सुधियाँ, रंगीन थिरक, मदिर चितवन आदि।"* इन उपकरणों के बिना 'प्रसाद' की दृष्टि में जीवन मानो भरा-पूरा नहीं, सम्पन्न नहीं; कृत्रिम है, अपूर्ण है। इसीलिए आदि से अन्त तक उनके साहित्य अथवा काव्य में ये तत्त्व भरपूर मात्रा में मिलेंगे। आत्मा से संपृक्त भौतिकता की उपेक्षा भी प्रसाद में नहीं मिलेगी। वे तो पृथ्वी पर स्वर्गीय निधियों का इतना आधिक्य पाते हैं कि स्वर्ग चाहे तो यहाँ से ले ले—

"वह अनन्त नीलिमा व्योम की जड़ता सी जो शान्त रही,
दूर-दूर ऊँचे से ऊँचे निज अभाव में भ्रान्त रही।

*विशेष देखिए—हमारा लेख, "प्रसाद-साहित्य में प्रेम और सौंदर्य", 'सरस्वती-संवाद', 'प्रसाद-अंक' (जनवरी-फरवरी,' ५८)।

'प्रसाद' की प्रायः सभी काव्य-कृतियों से संकलित इन प्रतिनिधि उक्तियों में कवि के प्रेम की ललाई देखने को मिल सकती है। प्रेम का स्वरूप, उसकी उदारता, उच्चता, गम्भीरता तथा निर्मलता का भी कुछ आभास इनके द्वारा प्राप्त हो जाता है।

'प्रसाद' की सौंदर्य-सम्बन्धी धारणा भी बड़ी परिष्कृत है। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब सौंदर्य ही नहीं है, वासना और आसक्ति से देखा गया केवल क्षण-भंगुर रूप-मात्र है। यदि आत्मा की आँखों से न देखा गया तो! कवि सौंदर्य की महत् शक्ति का संकेत करते हुए जीवन में वास्तविक (आत्मिक) सौन्दर्यानुभूति की विरलता का कितना सही निरूपण करता है—

"उस दिन तो हम जान सके तो सुन्दर किसको हैं कहते!
तब पहचान् सके, किसके हित प्राणी यह दुःख-सुख सहते।"

—कामायनी : निर्वेद सर्ग

सौन्दर्य की उदात्त भावना का स्पष्ट आलेखन इससे बढ़कर अन्यत्र शायद ही मिले—

"उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।"

—कामायनी : लज्जा-सर्ग

ऐसे सौन्दर्य को जब हम जीवन में देखने लगते हैं तो सौन्दर्यशाली पदार्थ या व्यक्ति हमारी आत्मा के रस के प्रभाव से चेतन हो उठते हैं। और वे किसी गूढ़ और अज्ञात रहस्य-सत्ता के उद्बोधक हो उठते हैं। केवल परिष्कृत दृष्टि और सुन्दर संस्कारों वाले व्यक्तियों का ही उस सौन्दर्य-लोक में अबाध प्रवेश हो सकता है, वासनापूर्ण आँखों की तो कड़ी जाँच होती है और वे उधर क़दम भी नहीं रख सकतीं—

"सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जांच रहीं।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है?
मेरी अक्षय निधि! तुम क्या हो, पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?" × ×

—कामायनी : काम सर्ग

संसार में जितना सौन्दर्य है, वह सब विराट् व अविनाशी सौन्दर्य-सत्ता की

तू क्यों फिर उठता है पुकार ?—मुझ को न मिला रे कभी प्यार।"

—लहर

"जो कुछ अपने सुन्दर से हैं, दे देने दो इनको।" —लहर

"राग से अरुण, घुला मकरन्द। मिला परिमल से जो सानन्द ॥
वही परिचय था, वह सम्बन्ध। "प्रेम का, मेरा तेरा छन्द ॥"

× × ×

"प्रेम की पवित्र परछाईं में। लालसा हरित विटपि झाँईं में ॥"

× × ×

"सत्य यह तेरी सुघराई में। प्रेम की पवित्र परछाईं में ॥"

× × ×

"सद्य स्नात हुआ मैं प्रेम सुतीर्थ में—मन पवित्र उत्साहपूर्ण-सा हो गया।"

× × ×

"बूँद-बूँद से सींचा, पर ये भीगेंगे न सकल अणु तुम से,
खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से।"

× × ×

"शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम ! तुम को शंका केवल है।"

× × ×

"उसको कहते 'प्रेम' अरे अब जाना।
लगे कठिन नख-रेख, तभी पहचाना ॥"

× × ×

"अन्तर में छिपकर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय मरुत हो, फहरे प्रेम पताका।" —झरना

× × ×

"अब छूटता नहीं छुड़ाये रंग गया हृदय है ऐसा,
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा कैसा।
चमकूँगा धूल-कणों में सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो ग्रह पथ में टकराऊँगा।
हे जन्म जन्म के जीवन साथी संसृति के दुःख में
पावन प्रभात हो जाते जागो आलस के सुख में।" —आँसू

'प्रसाद' की प्राय: सभी काव्य-कृतियों से संकलित इन प्रतिनिधि उक्तियों में कवि के प्रेम की ललाई देखने को मिल सकती है। प्रेम का स्वरूप, उसकी उदारता, उच्चता, गम्भीरता तथा निर्मलता का भी कुछ आभास इनके द्वारा प्राप्त हो जाता है।

'प्रसाद' की सौंदर्य-सम्बन्धी धारणा भी बड़ी परिष्कृत है। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब सौंदर्य ही नहीं है, वासना और आसक्ति से देखा गया केवल क्षण-भंगुर रूप-मात्र है। यदि आत्मा की आँखों से न देखा गया तो! कवि सौंदर्य की महत् शक्ति का संकेत करते हुए जीवन में वास्तविक (आत्मिक) सौन्दर्यानुभूति की विरलता का कितना सही निरूपण करता है—

"उस दिन तो हम जान सके तो सुन्दर किसको हैं कहते!
तब पहचान् सके, किसके हित प्राणी यह दुःख-सुख सहते।"

—कामायनी : निर्वेद सर्ग

सौन्दर्य की उदात्त भावना का स्पष्ट आलेखन इससे बढ़कर अन्यत्र शायद ही मिले—

"उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।"

—कामायनी : लज्जा-सर्ग

ऐसे सौन्दर्य को जब हम जीवन में देखने लगते हैं तो सौन्दर्यशाली पदार्थ या व्यक्ति हमारी आत्मा के रस के प्रभाव से चेतन हो उठते हैं। और वे किसी गूढ़ और अज्ञात रहस्य-सत्ता के उद्बोधक हो उठते हैं। केवल परिष्कृत दृष्टि और सुन्दर संस्कारों वाले व्यक्तियों का ही उस सौन्दर्य-लोक में अबाध प्रवेश हो सकता है, वासनापूर्ण आँखों की तो कड़ी जाँच होती है और वे उधर क़दम भी नहीं रख सकतीं—

"सौंदर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रहीं;
मेरी आँखों को रोक वहीं आगे बढ़ने में जाँच रहीं।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है?
मेरी अक्षय निधि! तुम क्या हो, पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?" × ×

—कामायनी : काम सर्ग

संसार में जितना सौन्दर्य है वह सब विराट् व अविनाशी सौन्दर्य-सत्ता की

छाया अथवा बाह्य आवरण है। सौन्दर्य को पहचानने वाले जब हमारे नेत्र खुल जाते हैं तो कण-कण की छाती खोलकर हम उस चिर-सुन्दर को देखने के लिए अधीर तथा चंचल हो उठते हैं, क्योंकि सुन्दर सृष्टि के अन्ततम में वह मधुर सत्ता मस्ती के साथ किलोलें कर रही हैं। जिस दिन उस सता के दर्शन जीवन में हो गये उसी दिन समझो कि उस पूर्ण सुन्दर का (जिसमें सत्य और शिव भी समाविष्ट है) दर्शन हो गया—

"सब कहते हैं 'खोलो खोलो छवि देखूँगा जीवन-धन को',
आवरण स्वयं बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की
चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं अवगुंठन आज सँवरता सा ;
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा लहरों में मस्त विचरता सा।
अपना फेनिल फन पटक रहा मणियों का जाल लुटाता सा ;
उन्निद्र दिखाई देता हो उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"

—कामायनी : काम-सर्ग

कवि की सौन्दर्य-दृष्टि प्रौढ़ावस्था में जाकर ही ऐसी बनी हो, यह बात नहीं। प्रारम्भिक कृतियों से ही कवि की उदात्त सौन्दर्य-चेतना का भव्य परिचय मिलता है। कुछ नमूने देखिए—

"है यही सौंदर्य में सुषमा बड़ी, लौह हिय को आँच इसकी ही कड़ी। × ×
किन्तु प्रिय दर्शन स्वयं सौन्दर्य है, सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है। × ×
मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी, दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी। × ×
लिखते लिखते चित्र वह बन जायगा, सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायेगा।

—कानन कुसुम

'चलो मिलें सौन्दर्य-प्रेमनिधि में'—तब कहा चमेली ने—
"जहाँ अखण्ड शान्ति रहती है—वहाँ सदा स्वच्छन्द रहें !"

—प्रेम-पथिक

"बना लो अपना हृदय प्रशान्त तनिक तब देखो वह सौन्दर्य" ।—झरना

"सौन्दर्य पलक प्याले का अब प्रेम बना जीवन में।" —आँसू

इस प्रकार सौन्दर्य की मूल चेतना, उसके स्वरूप-विश्लेषण तथा प्रभाव-निरूपण के द्वारा कवि का सौन्दर्य-दर्शन अथवा उसकी सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार-धारा अनुभूति से पुष्ट अतः प्रामाणिक रूप में हमारे सामने आती है, और यह

तथ्य स्थिर करने को हमें विवश कर देती है कि सौन्दर्य-चेतना को कवि ने अपनी रक्त की लाली से आत्मसात् कर लिया है।

प्रेम-सौन्दर्य-सम्बन्धी यह अनुभूति-जन्य दर्शन और काव्य में उसकी ध्वनि-प्रधान अभिव्यक्ति 'प्रसाद' को प्रेम का महाकवि घोषित करने को पर्याप्त है। प्रेम की भाव-व्यंजना और सौन्दर्य-चित्रण दोनों ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

मुक्तक गीतों तथा कविताओं में कवि ने प्रेम-पथ पर अनुभव में आने वाली दुःख-सुख की प्रायः सभी भावनाओं की बड़ी सूक्ष्म-कोमल अभिव्यक्ति की है। उपालम्भ, आशा, उमंग, विषाद, हर्ष, प्रतीक्षा, अभिलाषा, उत्साह, लज्जा, ग्लानि, याचना, कामना, क्षोभ, उल्लास, विस्मृति, उपेक्षा, अनुनय, विनय, समर्पण, व्रीड़ा, व्यथा, कसक, टीस, मान, चिन्ता, अवसाद, उदारता, आलस्य, जड़ता, प्रमाद, विवेक, विरक्ति, उदासी, स्मृति, मति, आश्वासन, संतोष, स्पर्द्धा, पश्चात्ताप, संकल्प, दैन्य, करुणा आदि पचासों भावनाओं का (जिनमें से बहुत सी तो शास्त्रीय ढाँचे में परिगणित संचारी भाव ही हैं) बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। कामायनी में 'असूया' संचारी की भी सुन्दर स्थिति दिखाई पड़ी है। प्रेम की जीवन-व्यापी अनुभूति के बीच 'आश्रय' की विविध दशाओं की ये व्यंजनाएँ मनोहर हैं—

क्षोभ—

"तुम रहो शीतल, हमें जलने दो,
तमाशा देखो, हाथ मलने दो ;
तुम्हें है शपथ हमारी ॥"

—झरना

× × ×

स्मृति—

"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन-घन-सघन बरसते—इन आँखों की छाया भर थे !"

—लहर

× × ×

उदारता—

"वक्षस्थल में जो छिपे हुए—
सोते हों हृदय अभाव लिये—

उनके स्वप्नों का हो न प्रात !" —लहर

× × ×

अभिलाषा—

"मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे !" —लहर

× × ×

संतोष, आशा, करुणा—

"निष्ठुर खेलों पर जो अपने, रहा देखता सुख के सपने,
आज लगा है क्या वह कँपने, देख मौन मरने वाले को ?" —लहर

विस्मृति—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे धीरे।" —लहर

× × ×

पश्चात्ताप, मति, आत्मबोध या विवेक—

"किन्तु था हृदय कहाँ ?
वैसा दिव्य
अपनी कभी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की।" —लहर

× × ×

उपालम्भ—

"क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?"
—कानन कुसुम

× × ×

असूया, क्षोभ व उग्रता—

यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिये मुझे मेरा ममत्व; × × ×
तुम अपने सुख से सुखी रहो, मुझको दुःख पाने दो स्वतन्त्र; × × ×
कह, ज्वलन-शीतल अंतर लेकर मनु चले गये, था शून्य प्रांत;"
—कामायनी

आलम्बन के रूप-चित्रण में कवि ने अपना सूक्ष्म तूलिका-कौशल प्रदर्शित किया है। जहाँ बाहरी रूप भीतरी शील-सौजन्य का प्रकाशक है वहाँ कवि ने

बड़ी तन्मयता से चित्रण में मीनाकारी की है। 'श्रद्धा' का रूप-वर्णन हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध तथा अद्वितीय है। उसमें आंतरिक शील और बाहरी रूप-सौंदर्य का सुमृदु सामंजस्य हो गया है। 'श्रद्धा' का बाहरी रूप-सौंदर्य आत्मिक गुणों की ही प्रतिकृति है—

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त ;"

—कामायनी : श्रद्धा सर्ग

कवि के मनोयोग व सूक्ष्म चित्रण-कौशल के परिचायक कुछ अद्भुत सौंदर्य-चित्र देखिए—

"मसृण गांधार देश के, नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढंक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।
आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम ;
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।"
"या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कान्त ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान ! रक्त किसलय पर ले विश्राम ;
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन छवि से ही दीप्त विश्व की करुण कामना मूर्ति ;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद ;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन-अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु राका मन की साध ;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध !"

—कामायनी : श्रद्धा सर्ग

"बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?
काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली ?
तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली
काला-पानी वेला सी है अंजन-रेखा काली ।
अंकित कर क्षितिज पटी को तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की बन जाती चतुर चितेरी ।
कोमल कपोल पाली में सीधी सादी स्मित-रेखा
जानेगा वही कुटिलता जिसने भौं में बल देखा ।
विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे ?
विकसित सरजित वन-वैभव मधु-ऊषा के अंचल में
उपहास कराने अपना जो हँसी देख ले पल में ।
मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुःख किनके ?
थी किस अनंग के धनु की वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या तनु छवि-सर की नव लहरी ?
चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी !
छलना थी तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था ।" —आँसू

× × ×

"ये वङ्किम भ्रू, युगल कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र—चपल मद से भरे,
अरुण राग रञ्जित कोमल हिम-खण्ड से—
सुन्दर गोल कपोल, सुढर नासा बनी ।
धवल स्मित जैसे शारद घन बीच में—
(जो कि कौमुदी से रञ्जित है हो रहा)

चपला सी है ग्रीवा हँसी से बढ़ी।
रूप-जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं।
मुक्तागण हैं लिपटे कोमल कम्बु में।
चञ्चल चितवन चमकीली है कर रही—
सृष्टि मात्र को, मानो पूरी स्वच्छता—
चीनांशुक बन कर लिपटी है अंग में।
अस्तव्यस्त है वह भी ढँक ले कौन सा—
अङ्ग, न जिसमें कोई दृष्टि लगे उसे।
सिंचे हुए वे सुमन सुरभि मकरन्द से—
पंख तितलियों के करते हैं व्यजन-से।"

—झरना

× × ×

"कहाँ स्निग्ध सौन्दर्य तुम्हारा? वह लावण्य कहाँ है अब?
वे सब अलस-कटाक्ष कहाँ हैं? वे घुँघराले बाल कहाँ?
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूँद-सदृश क्या ढुलक गया?

—प्रेम-पथिक

× × ×

"मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें,
उसे उकसाने को—हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गन्ध से—
कस्तूरी मृग जैसी।
पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।"

—लहर

उपर्युक्त प्रसिद्ध सौंदर्य-वर्णनों से कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। सबसे पहले तो हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट होता है कि इन वर्णनों में रूढ़ि अथवा परम्परा तथा मौलिक कल्पना का वांछित और मधुर मिश्रण है। श्रेष्ठ कवि साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं का भी स्वतन्त्र कल्पना के बल पर नवीन ढंग से विन्यास करते हैं। कवि ने भी इसी प्रकार का सामंजस्य

सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। सौंदर्य-चित्रण में कवि का पूर्ण मनोयोग और वस्तु-व्यापारों तथा प्रकृति और मानव-व्यवहारों का गम्भीर निरीक्षण झलकता है। यद्यपि अप्रस्तुत के विधान में बहुत-सी रूढ़ और घिसी-पिटी कल्पनाएँ भी दिखाई पड़ती हैं किंतु वहाँ चमकीले कणों की भी कमी नहीं। उपर्युक्त वर्णनों में से प्रथम तीन वर्णन परम्परागत नख-शिख वर्णन की परम्परा का ध्यान दिलाने वाले हैं। किन्तु कवि ने उसका ज्यों-त्यों अन्धानुकरण ही नहीं कर दिया है। उसने अपनी व्यक्तिगत रुचि और देश-काल की परिस्थिति के अनुकूल उसमें पर्याप्त काट-छाँट भी की है। कवि ने जायसी, सूर तथा अन्य रीतिकालीन कवियों की तरह, वेणी से लेकर पाँव के नख तक का उद्दीपनात्मक वर्णन नहीं किया है किन्तु अत्यन्त साहित्यिक संयम और शालीनता के साथ, कलात्मक ढंग से, उसने बाल, भौं, नेत्र, कान, दाँत, ओठ, बरौनी, कपोल, नासा, स्मिति, चितवन, ग्रीवा, कटाक्ष आदि का, ध्वनि की संकेतपूर्ण शैली में, वर्णन करके अंग, रूप, लावण्य, अंगों की स्वच्छता और वेश-भूषा आदि को प्रस्तुत किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह काट-छाँट बीसवीं शताब्दी के भारतीय नारी के विकासमान गौरव के अनुरूप है। कवि का यह युगानुरूप परिष्कृत रूप-वर्णन उसकी तत्संबंधी आदर्श भावना के अनुरूप भी है। कहीं-कहीं कवि ने नारी-रूप का विस्तृत वर्णन न करके कुछ प्रमुख अंगों के संकेतमात्र से भी अच्छा चित्र खड़ा कर लिया है।

इन वर्णनों में और भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य हैं। कवि अपने मन में जगी रूप-सौंदर्य की बलवती भावना को पाठक या श्रोता के हृदय तक पहुँचाना चाहता है। इसलिए उसमें वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वह अलंकारों का सहारा लेता है। उपर्युक्त वर्णनों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, मुद्रा, व्यतिरेक, रूपकातिशयोक्ति, प्रौढ़ोक्ति आदि अलंकारों का इस हेतु प्रयोग किया गया है। इस अलंकार-विधान के लिए कवि ने जो उपमान ग्रहण किये हैं वे मुख्यतः प्रकृति के क्षेत्र के हैं। कई एक उपमान तो ऐसे मौलिक, ताजे, अछूते और अनाघ्रात हैं कि पाठक उनकी मानसिक चर्वणा बहुत देर तक करता ही रहता है। स्थूल उपमेय के लिए उपमान स्थूल ही नहीं हैं बहुत सूक्ष्म भी हैं, जैसे—हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब मधुरिमा खेला सदृश अबाध।" कहीं-कहीं तो एक उपमेय के लिए एक भरा-पूरा चित्र ही उपमान

छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—भावों की उदात्तता से स्थूल आलम्बन को सूक्ष्म बनाने का प्रयास। यह आलम्बन स्थूल से सूक्ष्म तभी बनाया जाता है जब उसमें भावों के औदात्य के कारण, अलौकिक सौंदर्य का प्रतिष्ठान करके निर्मलता, पावनता आदि दिव्य गुणों की सत्ता भी दिखाना चाहें। 'प्रेम-पथिक', 'लहर', 'आँसू' आदि कृतियों में यह प्रयास अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ता है। सौंदर्य की सूक्ष्मता के लिए 'स्कन्दगुप्त' का यह गीत तो अद्वितीय ही है—

"अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों उन अलकों में।"

'प्रसाद' प्रेम, रूप, सौंदर्य, यौवन और विलास के कवि कहे जाते हैं। आइये, लगे हाथों जरा इस स्तुति पर भी विचार कर लें। प्रेम, रूप, सौंदर्य, यौवन आदि के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में हमने बहुत काफी कह दिया है। 'प्रसाद' विलास के कवि हैं—इस कथन में जो मर्म निहित है, वह विचारणीय है। हम ऊपर कह चुके हैं कि 'प्रसाद' अपनी मूल चेतना में एक रसवादी, आनन्दवादी, प्रकृतिवादी और जीवनवादी रोमांटिक कवि हैं। 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग हम यहाँ बहुत सोच-समझकर कर रहे हैं। 'प्रसाद' का रोमांस हल्का, सस्ता और छिछला रोमांस नहीं। इस रोमांस के केन्द्र में जीवन का एक ऐसा स्वस्थ, पौरुषवान् और प्राकृतिक उल्लास है जो कमल में जाकर मकरंद, बादल में जाकर घुमड़, समुद्र में जाकर ज्वार और साँसों में जाकर रागिनी बनता है। यदि कमल रस से पूरा लदे बिना ही वह सड़-गल जाय या मुर्झा जाय तो कमल का अस्तित्व व्यर्थ हो गया समझिये। कमल के प्राणों का यह रस उसके स्वस्थ, सुडौल और संतुलित विकास का, वातावरण की अनुकूलता का और मौलिक प्राण-शक्ति का परिचायक है। ऐसे कमल के प्रतीक द्वारा ही 'प्रसाद' की जीवन-रोमांस की भावना भली-भाँति समझ में आ सकेगी। इस रोमांस में कोरा तपना-सूखना नहीं है और न कोरा गलना-सड़ना ही। यह वस्तुतः पौरुष और माधुर्य का मणि-कांचन योग है, अन्धकार और प्रकाश की टक्कर में से फूटी हुई ऊषा का मधुर आलोक है, शीत और निदाघ की मुठभेड़ में से निकला हुआ किल-किलाता जीवन-वसंत है। यह टंकार और झंकार का संधि-स्थल है। 'स्कन्द-गुप्त' की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि वीर एक कान से शस्त्रों की टंकार सुनते हैं और दूसरे से वीणा की झंकार। यह जीवन दृष्टि 'प्रसाद' के सर्वांगपूर्ण

छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—भावों की उदात्तता से स्थूल आलम्वन को सूक्ष्म बनाने का प्रयास। यह आलम्वन स्थूल से सूक्ष्म तभी बनाया जाता है जब उसमें भावों के औदात्य के कारण, अलौकिक सौंदर्य का प्रतिष्ठान करके निर्मलता, पावनता आदि दिव्य गुणों की सत्ता भी दिखाना चाहें। 'प्रेम-पथिक', 'लहर', 'आँसू' आदि कृतियों में यह प्रयास अनेक स्थलों पर दिखाई पड़ता है। सौंदर्य की सूक्ष्मता के लिए 'स्कन्दगुप्त' का यह गीत तो अद्वितीय ही है—

"अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों उन अलकों में।"

'प्रसाद' प्रेम, रूप, सौंदर्य, यौवन और विलास के कवि कहे जाते हैं। आइये, लगे हाथों जरा इस स्तुति पर भी विचार कर लें। प्रेम, रूप, सौंदर्य, यौवन आदि के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में हमने बहुत काफी कह दिया है। 'प्रसाद' विलास के कवि हैं—इस कथन में जो मर्म निहित है, वह विचारणीय है। हम ऊपर कह चुके हैं कि 'प्रसाद' अपनी मूल चेतना में एक रसवादी, आनन्दवादी, प्रकृतिवादी और जीवनवादी रोमांटिक कवि हैं। 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग हम यहाँ बहुत सोच-समझकर कर रहे हैं। 'प्रसाद' का रोमांस हल्का, सस्ता और छिछला रोमांस नहीं। इस रोमांस के केन्द्र में जीवन का एक ऐसा स्वस्थ, पौरुषवान् और प्राकृतिक उल्लास है जो कमल में जाकर मकरंद, बादल में जाकर घुमड़, समुद्र में जाकर ज्वार और साँसों में जाकर रागिनी बनता है। यदि कमल रस से पूरा लदे बिना ही वह सड़-गल जाय या मुर्झा जाय तो कमल का अस्तित्व व्यर्थ हो गया समझिये। कमल के प्राणों का यह रस उसके स्वस्थ, सुडौल और संतुलित विकास का, वातावरण की अनुकूलता का और मौलिक प्राण-शक्ति का परिचायक है। ऐसे कमल के प्रतीक द्वारा ही 'प्रसाद' की जीवन-रोमांस की भावना भली-भाँति समझ में आ सकेगी। इस रोमांस में कोरा तपना-सूखना नहीं है और न कोरा गलना-सड़ना ही। यह वस्तुतः पौरुष और माधुर्य का मणि-कांचन योग है, अन्धकार और प्रकाश की टक्कर में से फूटी हुई ऊषा का मधुर आलोक है, शीत और निदाघ की मुठभेड़ में से निकला हुआ किल-किलाता जीवन-वसंत है। यह टंकार और झंकार का संधि-स्थल है। 'स्कन्द-गुप्त' की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि वीर एक कान से शस्त्रों की टंकार सुनते हैं और दूसरे से वीणा की झंकार। यह जीवन दृष्टि 'प्रसाद' के सर्वांगपूर्ण

शृंगार रस के वर्णन में कवि अनुभावों की भी सुन्दर योजना करते हैं। आश्रय के मन के भावों की तरंगें बाहरी कायिक, वाचिक व सात्त्विक चेष्टाओं के ही द्वारा प्रकट होती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ सुन्दर मुद्राओं के चित्र इन उदाहरणों में मिल सकते हैं—

"किस इन्द्रजाल के फूलों से लेकर सुहागकण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला जिससे मधु धार ढरे ?" × × ×
"जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली—
श्रद्धा की, धीरे से मनु ने अपने कर में ले ली।"
—कामायनी

"कोमल कपोल पाली में सीधी सारी स्मित-रेखा,
जानेगा वही कुटिलता—जिसने भौं में बल देखा।" —आँसू
"हरे पत्र, कोमल किसलय में अपना अंग छिपाती है। × × ×
सरल विलोकन में जिसके आन्तरिक प्रेम है खिला हुआ
निर्निमेष हो हँसती जैसे तन मन की सुधि भूली सी।"
—प्रेम-पथिक

"निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे
आह चूम लूँ जिन चरणों को चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुःख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरण उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ
फिर कह दोगे; पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किंतु उन्हीं अधरों से पहिले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो। × × ×
आँखें करने लगीं ठिठोली, × ×
है पोंछ रहा आँखें छलछल, किसने यह चोट लगाई है ?"—लहर
रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल ऊषा ने झाँका और फिर—

अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी ॥ × × ×
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किस को किसने झेला?"

—झरना

'प्रसाद' अपने साहित्य में अपने हृदय-विस्तार की सूचना देते हुए, प्रणय के क्षेत्र से और आगे भी बढ़े हैं। प्रणय मानव-जीवन की केन्द्रीय अनुभूति है, अतः 'प्रसाद' के आत्म-प्रधान (Subjective) काव्य में तो उसकी प्रधानता है ही किन्तु नाटकों, कहानियों, उपन्यासों व प्रबन्ध-काव्यों में भी वह जीवन-व्यापारों के बीच न्यूनाधिक रूप में उपस्थित हुआ है। 'प्रसाद' के काव्य में प्रणय अथवा दाम्पत्य के अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेम या देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, जाति-प्रेम, मानव-प्रेम, संस्कृति-प्रेम, पूज्य पुरुषों के प्रति प्रेम तथा मानव जीवन की उच्च वृत्तियों (कला, कल्पना आदि) के प्रति भी प्रेम व्यक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ईश्वर-विषयक प्रेम या भक्ति तथा वात्सल्य प्रेम भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है। प्रकृति-प्रेम की चर्चा तो पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र हो ही चुकी है, रूढ़ अर्थ में जिसे भक्ति-प्रेम कहते हैं (भक्ति के तत्त्व अन्य प्रकार के प्रेम में जोड़ने पर वे प्रेम भी भक्ति की ही कोटि को पहुँच जाते हैं) उसकी अभिव्यक्ति प्रसाद की आरम्भिक कृतियों में ('चित्राधार', 'कानन-कुसुम', आदि) तथा नाटकों में विविध पात्रों के द्वारा की गई प्रार्थनाओं के रूप में प्राप्त होती है। प्रकृति-प्रेम तथा भक्ति के बाद देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम 'प्रसाद' का सबसे अधिक सशक्त प्रेम है। मुख्यतः यह प्रेम 'प्रसाद' के नाटकों के पात्रों के जीवन के बीच ही चरितार्थ हुआ है किन्तु 'प्रसाद' जी ने कहीं-कहीं देश की रूप-माधुरी से मत्त होकर स्वतन्त्र महत्त्ववाले गीतों और कविताओं में उसकी सृष्टि की है। वास्तव में ये गीत और कविताएँ प्रसाद जी के गम्भीर देश-प्रेम, जाति-प्रेम और संस्कृति प्रेम की द्योतक हैं। इन रचनाओं के अनुशीलन से सहज ही यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि वे देश के नयनाभिराम प्राकृतिक और भौगोलिक सौंदर्य तथा देश की गरिमामयी, उज्ज्वल और चरम विकास को प्राप्त हुई प्राचीन भारतीय संस्कृति की दुर्दम्य प्रेरणा से प्रस्फुटित हुए हैं। इन रचनाओं में हमारा सांस्कृतिक इतिहास, सांस्कृतिक गौरव और भारत के प्रति प्रकृति का सौंदर्य फूट पड़ा है। स्कन्दगुप्त की **"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार"**

नामक कविता प्राणों में देश-प्रेम की माधुरी घोल देने वाली है। इस दृष्टि से कार्नेलिया द्वारा गाया हुआ 'चन्द्रगुप्त' का गीत "अरुण यह मधुमय देश हमारा" एक बड़ी ही अनूठी रचना है। इसमें प्राकृतिक प्रतीकों की सहायता से कवि ने भारत की रसमयी, ममतामयी, आलोकमयी और शान्तिमयी आत्मा का बड़ा ही सलोना चित्र प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' का "हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध बुद्ध भारती" नामक गतिशील गीत देश की स्वतन्त्रता के लिए एक बड़ा ही ओजस्वी और प्राणवान् गीत है। 'शेर सिंह का शस्त्र-समर्पण' (लहर) तथा 'पेशोला की प्रतिध्वनि' (लहर) नामक कविताओं में भी कवि का तमतमाता हुआ राष्ट्र-प्रेम प्रकट हुआ है। देश और जाति की स्वतन्त्रता तथा स्वाभिमान के प्रति कवि की चिंता कितनी स्पष्ट रेखाओं में यहाँ मूर्तिमान हो उठी है। इन सब रचनाओं में वीर रसोपयोगी उत्साह, ओज, शक्ति और तेजस्विता की अभिव्यक्ति हुई है जो हमारे रक्त का प्रवाह तेज कर देती है। देश और संस्कृति के साथ प्रसाद जी अपनी जाति और इतिहास के भी अनन्य प्रेमी हैं। वेद, पुराण उपनिषद्, आरण्यक और स्मृतियों की प्रणेता आर्य जाति का गुण-गान करते कवि का कण्ठ नहीं अघाता। किन्तु यह जाति-प्रेम कोरा अन्ध-प्रेम ही नहीं है। जहाँ कवि ने इसकी उपलब्धियों और परम्पराओं का कम्बु-कंठ से गान किया है वहाँ अपने उसी गहन प्रेम के वशीभूत होकर वह उसके जर्जर और गलित अंगों को काटकर उनके जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण में भी पीछे नहीं हटा है। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'करुणालय' इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भारतीय संस्कृति करुणा, विश्व-मैत्री, प्रेम, उदारता, क्षमा और सहयोग पर खड़ी है। जहाँ-जहाँ भी अवसर मिला है, कवि ने अपने काव्य में उनका स्तवन किया है। राज्यश्री के 'करुणा कादम्बिनी बरसे' नामक गीत में करुणा का आवाहन किया गया है। इसी प्रकार अन्य नाटकों तथा 'लहर' व 'झरना' आदि काव्य-कृतियों में 'करुणा' आदि मानसिक निधियों का गान किया गया है। देश के पूज्य पुरुषों के प्रति प्रेम भी व्यापक देश-प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कवि ने अपने काव्य में बुद्ध, अशोक, विश्वामित्र आदि महात्माओं और ऋषियों के प्रति भी अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जियाँ अर्पित की हैं। "प्रलय की छाया" नाम की कविता में कमला के चरित्र-चित्रण के व्याज से मेवाड़ की प्रातःस्मरणीया रानी पद्मिनी का भी अभिनंदन किया है। कवि

ने यत्र-तत्र विश्व-गृहस्थ परमेश्वर तथा उसके बनाये हुए सब गृहस्थों एवं सामान्य मानवों के लिए भी अपनी करुणा का द्वार खोल दिया है। कला और कल्पना आदि मानसिक सौख्य के उपकरणों पर भी कवि की उक्तियाँ सुन्दर हैं। वात्सल्य भी उपेक्षित नहीं रहा है। 'कानन-कुसुम' और 'कामायनी' में (श्रद्धा-पुत्र कुमार) वात्सल्य रस से सम्बन्धित स्थल संक्षिप्त होते हुए भी सुन्दर हैं, और इन सबसे ऊपर मानव-प्रेम। इस प्रेम के अन्तर्गत सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। यह प्रेम हृदय की उदात्त ऊँचाइयों का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति तो मानव के सुख और कल्याण की ही साधिका है, फिर भारतीय कवि केवल देश, राष्ट्र या जाति तक ही कैसे सीमित रहता। 'कामायनी' कवि के मानव-प्रेम का भव्य स्मारक एवं प्रतीक है। वह मानव-सुख के विधान का ही उपक्रम है। भारतवासी ही नहीं, मानव-मात्र सुखी हो, सारी जगती पन्ना मणि और हरियाली की तरह हरी-भरी हो, यही इस महाकाव्य की प्रेरणा है, 'स्प्रिट' है।

इस प्रकार प्रणय के अतिरिक्त जीवनोपयोगी अन्य प्रकार के प्रेम (अवश्य काव्य में वह परिमाण में कुछ कम हो सकता है किन्तु प्रसाद के समस्त सृजन को देखते हुए सम्भवतः बहुत अधिक है) से भी प्रसाद का हृदय आर्द्र और सरस है।

: ६ :

प्रसाद, छायावाद तथा काव्य-शैली

'प्रसाद' छायावाद के प्रमुख उन्नायकों और स्तम्भों में से हैं। उनकी आरम्भिक कृतियों में 'झरना' एक ऐसी कृति है जिसमें छायावाद के तत्व प्रथम बार स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुए दिखाई पड़ते हैं। छायावाद की वस्तु और शैली को लेकर हिन्दी में काफी लम्बा-चौड़ा विवाद रहा है और अनेक लेखकों ने छायावाद के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणा प्रस्तुत की है। लेकिन सबके मूल में एक बात निश्चित है कि द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक काव्य-शैली के प्रतिक्रिया-स्वरूप, अंग्रेजी और बँगला की अभिव्यंजन प्रणालियों के प्रभाव से जो काव्य-शैली हिन्दी-कविता में प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् आविर्भूत हुई थी, वह 'छायावाद' कहलाई। छायावाद के आरम्भिक कवियों में जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', मुकुटधर पाँडेय, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि कवियों का नाम आता है। किन्तु छायावाद के प्रवर्तकों में 'प्रसाद', 'निराला', पंत और महादेवी ही मुख्य हैं।

छायावाद काव्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होने के पश्चात् अनेक प्रमुख विचारकों ने उसका स्वरूप-विश्लेषण करके उसके सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ स्थिर कीं, जिनमें आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जयशंकर 'प्रसाद', श्री सुमित्रानन्दन पंत, सुश्री महादेवी वर्मा, बाबू भगवतीचरण वर्मा, बाबू गुलाबराय, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, पं० शांतिप्रिय द्विवेदी आदि मुख्य हैं। इनमें से कुछ एक के विचारों पर सामूहिक दृष्टि डालने से छायावाद के सम्बन्ध में एक अच्छी-खासी धारणा तैयार हो सकती है।

आचार्य पं० शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में स्वीकृत किया है—(१) "एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है; अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है", और, (२) "काव्य-शैली या पद्धति

विशेष के व्यापक अर्थ में।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल छायावाद के अन्तर्गत नई कविता का वस्तु-पक्ष तथा शैली-पक्ष—ये दोनों ही ग्रहण करते हैं। वस्तु-पक्ष उनकी दृष्टि में रहस्यवाद की उन कविताओं से निर्मित होता है जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना-रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में "छाया (Phantasm) कहते थे।" आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि बंगाल के ब्राह्म-समाज के बीच प्रचलित आध्यात्मिक गीत या भजन, जो यूरोप के सन्तों के आध्यात्मिक ज्ञान के आभास अथवा 'छाया' से सम्बन्धित वाणी की प्रेरणा से अथवा उसके अनुकरण पर लिखे होते थे, 'छायावाद' कहलाने लगे। इसी से बँगला साहित्य में इस शब्द का प्रचार हुआ और वहाँ से वह हिन्दी में आया। अपने विवेचन का समाहार करते हुए आचार्य शुक्ल ने छायावाद का सामान्य अर्थ लिया—"प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" आचार्य शुक्ल की दृष्टि में छायावाद के मूल आध्यात्मिक अर्थ को लेकर चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा और "प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली" वाले पक्ष को लेकर छायावादी कहलानेवाले कवि पंत, प्रसाद और निराला आदि हैं।

छायावाद की कविता के स्वरूप का विस्तृत विश्लेषण कविवर पंत ने अपने प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'पल्लव' की भूमिका में किया है जिसमें कविता के अन्त-र्बाह्य पर विचार करते हुए उसे "परिपूर्ण क्षणों की वाणी" कहा है। अपने इस विशद विवेचन में कवि ने काव्य की आत्मा और काव्य के बाह्य आवरण तथा संगीत पर गहराई से विचार किया है। उनकी दृष्टि में नई कविता वस्तु और शैली की दृष्टि से एक बड़ी व्यापक क्रान्ति है। बाबू भगवतीचरण वर्मा ने अपने "मधुकण" की भूमिका में छायावाद की कविता में मानसिक चित्रपटों की प्रधानता बताई है। और उन कारणों का विस्तृत, सरल और तर्कसम्मत विश्लेषण किया है जिनके कारण छायावाद की कविता गम्भीर, धुँधली, अस्पष्ट और अपूर्ण है। श्री महादेवी वर्मा ने अपने काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं में छायावाद सम्बन्धी अपने विशिष्ट दृष्टिकोण का पर्याप्त स्पष्टता से प्रकाशन किया है। उन्होंने छायावादी कविता की ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि में नई कविता के स्वरूप का—विशेषतः उसके आध्या-

त्मिक पक्ष का—मार्मिक उद्घाटन किया है, और व्यक्ति की मूल चेतना के
तत्त्वों—स्वप्न, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा-करुणा आदि—का विश्लेषण करते
हुए छायावाद की कविता के पोषण में लिखा है कि "सृष्टि के बाह्याकार पर
इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के
लिए रो उठा। स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम 'छाया'
उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।" डा० नगेन्द्र
छायावाद के एक बड़े समर्थ व्याख्याता हैं। उन्होंने द्विवेदी-काल के प्रतिक्रिया-
स्वरूप आविर्भूत हुए इस वाद में कवि का सूक्ष्म के प्रति प्रेम का आग्रह बताया
है जिसके विविध रूप उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों
के प्रति स्वातंत्र्य का विद्रोह, और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्दता का
विद्रोह है।

'प्रसाद' जी ने भी अपनी छायावाद सम्बन्धी मौलिक मान्यताएँ स्थिर की
हैं जिनमें वस्तु और शैली दोनों की ही क्रान्ति निहित है—कदाचित् वस्तु की
अधिक। वे वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति में ही छायावाद
का प्राण मानते-से जान पड़ते हैं। उनकी दृष्टि में छायावादी कविता के भाव
"आन्तरिक स्पर्श से पुलकित" हैं। उन्होंने 'छाया' (कहानी संग्रह) के मुख-
पृष्ठ पर 'मेघदूत' के एक श्लोक की यह पंक्ति उद्धृत की है :—

"रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्" —कालिदास

इस 'छाया' की पर्याप्त विस्तृत व्याख्या कवि ने अपने 'काव्य और कला
तथा अन्य निबंध' नामक ग्रंथ के 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेख में की
है जहाँ 'छायावाद' की 'छाया' के सौंदर्य को मोती के भीतर की छाया की जैसी
तरलता तथा अंगों के लावण्य-सा बताया है। 'प्रसाद' की दृष्टि में छायावादी
कविता में अनुभूतिमय आत्मस्पर्श तथा शब्द और अर्थ की स्वाभाविक
वक्रता आदि तत्त्व आवश्यक हैं। अपने विषय का उपसंहार करते हुए कवि ने
लिखा है—

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक
निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान तथा
उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं।

अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"

छायावाद-सम्बन्धी 'प्रसाद' के इस विवेचन को देखकर एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि यद्यपि उन्होंने अभिव्यक्ति की रम्यच्छायान्तर-स्पर्शी वक्रता, शब्दों की भंगिमा, नवीन शैली, नया काव्य-विन्यास आदि को बहुत महत्त्व दिया किन्तु 'छायवाद' के अनिवार्य उपकरणों या व्यंजनों के रूप में "आन्तरहेतु", "आन्तरिक स्पर्श की पुलक", "भीतर की छाया", "लावण्य, कान्ति व अनुभूतिमय आत्म-स्पर्श" ही उनकी दृष्टि में प्रमुख जान पड़ते हैं। 'प्रसाद' ने वाह्य अभिव्यक्ति से अधिक महत्त्व सदा अनुभूति को ही दिया है। उन्होंने अपने 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में यह स्पष्ट लिखा है—"इसी लिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिये अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति।.........इसलिए व्यापकता संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।"

'प्रसाद' 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' को एक ही नहीं मानते। साथ ही वे यह भी नहीं मानते कि "जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो वही छायावाद है।"

'प्रसाद' ने संकेत में छायावाद की व्याख्या का एक और नवीन आधार प्रस्तुत किया है जिसकी व्याख्या विस्तार में कई अन्य लेखकों ने भी की है। प्रकृति, वेदान्त के प्रतिविम्बवाद के अनुसार प्रतिच्छाया अथवा प्रतिविम्ब है। जायसी ने इसी मत के आधार पर सारी सृष्टि को ब्रह्म का प्रतिविम्व मानकर प्रकृति का अनेक स्थानों पर निरूपण किया है। अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि प्रकृति ब्रह्म की छाया या प्रतिविम्ब है। यह विचार 'छाया' शब्द को लेकर छायावाद की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त उर्वर भूमि प्रस्तुत करता है किन्तु 'प्रसाद' जी का मत इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न है। वे लिखते हैं—"प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिविम्व है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता है।"

इस सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही निवेदन है कि छायावाद-रहस्यवाद के

स्वरूप के मूल अन्तर के सम्बन्ध में यह तथ्य अब पर्याप्त स्थिर और प्रचलित हो गया है कि अपने मनोभावों की छाया प्रकृति में देखना और उस पर चेतना का आरोप करते हुए उसके साथ मानवीय प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करना छाया-वाद का क्षेत्र है और प्रकृति में विराट् पुरुष की सत्ता स्फूर्ति का अनुभव करना, उसमें उसकी छाया अथवा प्रतिबिम्ब देखना तथा उसे ब्रह्म का अभिन्न अंग मानते हुए उसके कण-कण में दिव्य चेतना और शक्ति का अनुभव करना रहस्यवाद था।

यह तो हुई छायावाद के सम्बन्ध में कवियों और काव्य-चिन्तकों की सामूहिक धारणा। अब स्वयं छायावाद के उपलब्ध काव्य के आधार पर ही उसकी प्रकृति (स्वभाव) और तत्वों के जानने का प्रयास किया जाय जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि 'प्रसाद' का इस नवीन काव्य के प्रवर्त्तन में कितना महत्त्वपूर्ण योग है।

ऊपर कहा जा चुका है कि छायावाद वस्तु और शैली की क्रांति है। पहले वस्तु को लें। काव्य की मुख्य वस्तु भाव तथा विचार (काव्य में विचारों का सीधा-सादा बौद्धिक प्रतिपादन न होकर उनका भावों तथा रसों में रूपान्तरण कर दिया जाता है।) होते हैं। विचार तो देश-काल तथा व्यक्ति-भेद से बदलते रहते हैं पर क्या काव्य की मुख्य वस्तु (भाव) में भी कुछ परिवर्तन होता हमारा उत्तर है—भाव अनादि हैं, उनके मूल स्वरूप में परिवर्तन नहीं । तो फिर काव्य-वस्तु की क्रांति से क्या अभिप्राय है? इस क्रांति का अभिप्राय केवल यही है कि भावों के मूल स्वरूप में कोई अन्तर न आकर उनका धरातल बदल गया तथा उनके काव्यगत-विन्यास में नई चमक-दमक आ गई। हृदय के रति आदि भावों के आलम्बन तो वास्तव में लौकिक ही थे किंतु छायावाद में लौकिक आलम्बन को अलौकिक आलम्ब बनाने का सजग प्रयास होने लगा। इसके सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अनेक कारण थे जिनका बखान करना यहाँ अनावश्यक है। लौकिक को अलौकिक बनाने का वह प्रयत्न इतना सूक्ष्म-धूमिल था कि छायावाद तथा रहस्यवाद परस्पर पर्याय माने जाने लगे। किन्तु वास्तव में लौकिक को अलौकिक बनाने का यह कृत्रिम प्रयत्न ही छायावाद था। अलौकिक व अखंड प्रकाशमयी सत्ता का समस्त प्रकृति (जड़ और चेतन दोनों) में सहज दर्शन करना रहस्यवाद

बात यह हुई कि कवियों में एक विचित्र मनस्विता और मस्ती का संचार हुआ जिसके वशीभूत हो वे व्यथा और वेदना का स्वागत करने लगे; उनमें शीतल शांति का अनुभव होने लगा; वे सुखों को जान-बूझकर ठुकराने लगे; व्यथा, आत्म-दाह, जलन, कसक और टीस का आह्वान करने लगे; उनके बिना जीवन को निस्सार व स्वादहीन समझने लगे। व्यथा और जलन के प्रति यह आसक्ति 'चस्के' का रूप ग्रहण कर बैठी। मिलन के बजाय विरह में बेहद मज़ा आने लगा। इस प्रकार छायावादी कवियों का मनोविधान (बहुत कुछ अंग्रेजी कविता व उर्दू-फ़ारसी की शायरी के प्रभाव से) कुछ ऐसा दिखाई पड़ा जो न तो संस्कृत के कवियों का था और न प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी कवियों का। हमारी समझ में मुख्यतः इन्हीं विशेषताओं के कारण 'छायावाद' एक स्वतन्त्र तथा विशिष्ट काव्य-सम्प्रदाय के रूप में पहचाना गया—काव्य-शैली के कारण उतना नहीं, क्योंकि नई काव्य-शैली के जितने प्रमुख उपकरण (विरोधाभास, लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रतीक-विधान आदि) थे उनसे हिन्दी-कविता अपरिचित नहीं थी। हाँ, उनका प्रयोग अधिक होने लगा, यह दूसरी बात है।

इस प्रकार छायावादी कविता का वर्ण्य पक्ष पर्याप्त नवीनता लिये हुए था। 'प्रसाद' जी की काव्य-कृतियों में (मुख्यतः गीतों व छोटी-छोटी कविताओं में) ऊपर परिगणित बहुत-सी विशेषतायें देखने को मिल जायेंगी।

अब रहा शैली-पक्ष। 'प्रसाद' की कविता छायावाद की शैली के सभी प्रमुख उपकरणों से सम्पन्न है। लाक्षणिक वैचित्र्यमूलक विरोधाभास (घनानन्द इसका बहुत सुन्दर प्रयोग पहले कर चुके थे, जैसे 'मौन मधि पुकार' लाक्षणिक प्रयोगों में), मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, छंद-वैचित्र्य, प्रतीक-विधान, सादृश्य से आगे बढ़कर साधर्म्यमूलक उपमाओं का प्रयोग, रमणीय और कोमल कल्पना के बल से अप्रस्तुत विधान, कोमल, संगीतमयी तथा स्निग्ध भाषा आदि छायावादी काव्य-शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं जो 'प्रसाद-काव्य' की पंक्ति-पंक्ति में मिल जायेंगी।

शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं—(१) अभिधा, (२) लक्षणा तथा (३) व्यंजना। अभिधा शक्ति शब्द का सीधा-सादा प्रचलित अर्थ देती है, किन्तु मुख्य अर्थ का बोध होने पर रूढ़ि-प्रयोजन के कारण शब्द के प्रचलित अथवा मुख्य अर्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थों की प्राप्ति शब्द की लक्षणा शक्ति से प्राप्त

होती है। शब्दों के इन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ही काव्य में ध्वनि अथवा व्यंजना उत्पन्न की जाती है जिससे सहृदय जन काव्य के गम्भीर आनन्द का उपभोग करते हैं। अतः लक्षणा शक्ति का महत्व निर्विवाद है। छायावाद की काव्य-शैली में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा ही विरोधाभास, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, प्रतीक आदि अन्य उपकरणों में सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है। इन सबके प्रयोगों में शब्द अपने प्रचलित अर्थों को छोड़कर एक नवीन ही अर्थ देने लगते हैं इसलिए वे कवि और पाठक दोनों के ही गम्भीर आनन्द में सहायक होते हैं। 'लक्षणा' शक्ति के इसी क्रिया-कलाप को लाक्षणिक वैचित्र्य कहते हैं।

'विरोधाभास' में दो विरोधी बातों के मिश्रण द्वारा अभिव्यक्ति में एक चमक, एक तड़प पैदा की जाती है। 'प्रसाद' ने कुछ अत्यन्त सुन्दर विरोधाभासों का विधान किया है। उदाहरणार्थ—

मेरी अनामिका संगिनि ! सुन्दर कठोर कोमलते। —आँसू
तू कौन सजग हो आई मेरे मन में विस्मृति है। —आँसू
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला। —आँसू
तपस्वी के विराग की प्यार। —लहर
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था। —लहर
"अरी आधि की सूत्रधारिणी ! अरी आधि, मधुमय अभिशाप।"
—कामायनी
मणिद्वीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य ! —कामायनी
जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार-बार जाती सोने। —कामायनी

'मानवीकरण' के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में पर्याप्त लिखा जा चुका है।

'विशेषण-विपर्यय' भी छायावादी काव्य-शैली की एक विशेषता है। यह भी 'लक्षणा' के अन्तर्गत है। कुछ उदाहरण देखिये—

सबल तरंगा घातों से उस क्रुद्ध सिंधु के विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी। —कामायनी

जिसमें मदोद्धत कटाक्ष की अरुणिमा
व्यंग्य करती थी विश्व भर के अनुराग पर। —लहर

अभिधा में, इन पंक्तियों के द्वारा किसी मधुर रजनी में नदी-तट के हरे-भरे उद्यान के वर्णन का ही अनुभव होता है किन्तु है यहाँ प्रतीकों के द्वारा गुजरात की सुन्दरी कमला के यौवन, रूप-लावण्य और उसके प्रभाव का वर्णन। इसमें सरिता जीवन का, मधुयामिनी नींद-भरे वसन्ती यौवन का, मलय पवन प्रणय-गन्धमयी साँसों का, फूल यौवन के सुवासित भावों का, मकरन्द-बिन्दु यौवन-रस से आप्लावित आत्मिक उल्लास का, चाँदनी प्रणय का, हरा भरा पुलिन यौवन की मांसल, गदरारी, लहराती रूपवती स्निग्ध माया का, नींद किसी आलसमयी प्रणयी की प्रतीक्षा में स्वप्न-लीन मानस की स्थिति का, तारिकाएँ विश्व की सुन्दरियों का (या यहाँ व्यतिरेक अलंकार के बल पर कमला का सौंदर्य भी ध्वनित है कि स्वयं आकाश की तारिकाएँ तक कमला को देखने के लिए उत्सुक थीं—आँखें फाड़े निहार रही थीं !), शतदल जीवन के वैभव व विकास का और गंध प्रणय-भावना का प्रतीक है।

स्पष्ट है कि ऐसे प्रतीकात्मक प्रयोगों में कवि की गहन अनुभूति तथा श्रोता व पाठकों की प्रतीकों को समझने की क्षमता भी निहित है।

अलंकार के सम्बन्ध में भी ऊपर यत्र-तत्र पर्याप्त कहा जा चुका है। यहाँ उपमा के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार और किया जायगा; क्योंकि उपमा ही अलंकारों का मूल है और उसके प्रयोग में कवि का प्रकृति-निरीक्षण, जीवनानुभव तथा भावुकता व कल्पना का उत्कर्ष निहित है। सादृश्य के बल पर उपमा का विधान तो प्रायः होता ही है। इसमें भी कभी-कभी सटीक सादृश्य का विधान बड़ा मनोहारी होता है। जैसे—

"उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो चार खड़े।" —कामायनी

किन्तु उपमा में सूक्ष्म तथा स्थूल उपमेय-उपमान के बीच भी अच्छा सादृश्य स्थापित किया जाता है। 'प्रसाद'-काव्य से ही कुछ सुन्दर उदाहरण लीजिये—

स्थूल उपमेय। स्थूल उपमान;

ऊपर वाला ही उदाहरण।

सूक्ष्म उपमान : स्थूल उपमेय;

(१) उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।—कामायनी

(२) बढ़ने लगा विलास-वेग सा वह अति भैरव जल-संघात।—कामायनी

(३) एक सौंदर्यमयी वासना की आंधी सी (कमला)
पहुँची समीप सुलतान के। —लहर

सूक्ष्म उपमान : सूक्ष्म उपमेय;

सूक्ष्म आशा के लिए यह उक्ति—

"स्मिति की लहरों सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान।"—कामायनी

इस प्रकार सादृश्य के विधान में भी कवि ने बहुत सूक्ष्मता प्रदर्शित की है।

'प्रभाव-साम्य' भी उपमा का एक बहुत सुन्दर आधार होता है जिसमें बाहरी स्थूल अथवा सूक्ष्म सादृश्य को चीरकर उस उपमा की तलवर्ती मर्म-भावना की तुलना होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की उपमा का विधान गहरी अनुभूति और कौशल—दोनों की ही अपेक्षा रखता है। जैसे—

"सखि, सांध्य गगन—
मेरा जीवन !" —महादेवी वर्मा

इस रूपक में संध्या के आकाश के बादलों का रंग, उपमा या रूपक का प्राण न होकर संध्या के आकाश से व्यंजित होने वाली जीवन की शून्यता, निस्तब्धता या एकाकीपन ही उसका आधार ठहरता है। प्रभाव साम्य वाली उपमा में कवि की बाहरी नाप-जोख की परीक्षा उतनी नहीं, जितनी उसकी अनुभूति व कल्पना की होती है। 'प्रसाद' जी का यह उदाहरण लीजिये जिसमें 'चिंता' की पूर्ण भावना एक भरे-पूरे उपमान पक्ष के द्वारा प्रस्तुत की गई है—

"जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घन-माला में—
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।" —कामायनी

अब 'प्रसाद' की काव्य-भाषा पर विचार किया जाये।

'प्रसाद' की भाषा पर विचार करने से पूर्व तत्सम्बन्धी विषय पर संक्षिप्त-सी सिद्धान्त-चर्चा भी आवश्यक है जिससे कि 'प्रसाद' जी पर यदा-कदा लगाये जाने वाले आरोपों या आपत्तियों का औचित्य-अनौचित्य भी सामने आ सके।

भाषा भाव-विचार की अभिव्यक्ति का साधन है। दैनिक जीवन में हम अपने भावों और विचारों को जैसी सहजता और अकृत्रिमता से अभिव्यक्त करते हैं ठीक वैसी ही सहजता और अकृत्रिमता से वे काव्य में नहीं किये जाते—थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य आ जाता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। कविता

कल्पना के उत्तेजन, भावों की प्रेरणा और जीवन की किसी गहन मर्मानुभूति से ही जाग्रत होती है। ये सब स्थितियाँ प्रायः विरल तथा असाधारण क्षणों की उपज हैं और इतनी मार्मिक होती हैं कि दूसरों के हृदय तक इन्हें प्रभावशालिता और सुन्दरता के साथ पहुँचाने के लिए अभिव्यक्ति सम्बन्धी एक विशेष व्यवस्था व आयोजन मन में स्वमयेव ही उपस्थित हो जाता है। ऐसी अभिव्यक्ति कठिन ही हो, यह भी बिलकुल आवश्यक नहीं। बाहरी दृष्टि से सरल दिखाई पड़नेवाली अभिव्यक्ति के भीतर भी तो (जैसे मीरा, तुलसी का काव्य) गहरी व्यंजनाएँ छिपी रहती हैं। फिर भी वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) और दान्ते (Dante) आदि प्रसिद्ध पाश्चात्य कवियों ने भाषा-सम्बन्धी अपने दीर्घकालीन प्रयोग-परीक्षणों के पश्चात् यही अनुभव किया था कि जनसाधारण अथवा जनता के निम्न वर्गों के लिए स्वयं उन्हीं के भावों और जीवन-परिस्थितियों को वर्णित करने की दृष्टि से भी, साधारण बोल-चाल की भाषा से ऊपर उठना कवि के लिए अनिवार्य ही है, यह मानो उनकी विवशता है। वास्तव में काव्य-भाषा का आदर्श दो लक्ष्यों की एक साथ सिद्धि से ही स्थापित हो सकता है—प्रथम, कवि अपने आंतरिक व वेगवान् भावों को, जो व्यावहारिक जगत्-जीवन सम्बन्धी अथवा प्रेम-सौंदर्य सम्बन्धी एकांत आंतरिक तथा रसमयी बहुमूल्य अनुभूतियों से प्रेरित हुए हैं, निःशेष आत्म-प्रकाशन की पूर्ण तृप्ति की भावना के साथ, सब बाह्य दबावों, बाहरी माँगों, या विवशताओं का विचार छोड़कर, उन्मुक्त, सशक्त व कलात्मक वाणी दे सके; और द्वितीय, वह वाणी अर्थ-बोध तथा भाव-ग्रहण की दृष्टि से, सम्भवतया अधिकाधिक पाठकों अथवा श्रोताओं तक पहुँचने की क्षमता रख सके। जहाँ पर ये दोनों लक्ष्य, एक दूसरे को बाधा पहुँचाये बिना, सुखपूर्वक निवास कर सकते हैं वही काव्य-भापा की आदर्श भूमि है। सबके मस्तिष्क में हमारी कविता तुरन्त ही इस प्रकार उतर जावे जैसे झीने वस्त्र में पानी, यह बात तो कवि और पाठक दोनों के लिए घाटे की है—कवि के लिए तो यों, कि वह हल्की-झीनी लोक-रुचि का अनुरंजन करने के सस्ते लक्ष्य के कारण जनता को उदात्त भावों और विचारों का पौष्टिक रस प्रदान करने के अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्व से जी चुरा रहा है; और जनता के लिए इसलिए, कि वह अपने कवि से अच्छा जीवन-रस पाने से वंचित हो रहा है और साथ ही काव्य के रस-ग्रहण के लिए वांछित ग्राहक कल्पना के आन्तरिक व्यायाम का

अभ्यास नहीं बढ़ा रही है। इस प्रकार दोनों ही विकास की ओर अग्रसर नहीं होते। कठिन भाषा से ऐसा होगा, यह हम नहीं कह रहे हैं; हमें तो केवल इतना ही कहना है कि जिस प्रकार की भाषा से भी कवि अपनी अर्थ-गौरवमयी व उदात्त भावनाओं से आत्म-सुख तथा जन-कल्याण दोनों का सम्पादन कर सकता है, वैसी ही भाषा का प्रयोग करे। हां, मुख्य बात यह अवश्य है कि वह अभिव्यक्ति में अपने भाव, उसके ज्वार तथा उसकी बाह्य प्रभावशीलता के प्रति सच्चा रहे। इसके पश्चात् भाषा की कठिनता या सरलता का प्रश्न बहुत कुछ अपने आप हल हो जायगा। कालिदास और तुलसी—दोनों तत्त्व के कारण महान् हैं; भाषा की कठिनता या सरलता का प्रश्न काव्य की आन्तरिक ज्योति व शक्ति के आगे उठता ही नहीं, और न उठना ही चाहिए। प्यास है तो सरोवर पर जाने का कुछ प्रयास करना पड़ेगा ही!

उक्त स्थापना के व्यापक संदर्भ में 'प्रसाद' की काव्य-भाषा की विवेचना करना कुछ सुगम होगा। 'प्रसाद' हिन्दी में 'छायावाद' के प्रवर्त्तक समझे जाते हैं। द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध जो काव्य-ध्वनि अथवा व्यंजना की भावगत और अभिव्यक्तिगत क्रान्ति हुई उसका सीधा सम्बद्ध भाषा से है। द्विवेदी-काल तक हिन्दी में बहिर्जगत् सम्बन्धी विपुल काव्य-रचना हो चुकी थी। अन्तर्जगत् को लेकर यद्यपि भक्तिकाल के कवियों ने आत्म-रस की सारी पतित-पावनी जनता के हृदय पर उँड़ेल दी थी किन्तु अन्तर्जगत् के विस्तार का क्या कहीं अंत है! उसमें अभी एक कोना मानों ऐसा शेष था जिसके भाव निस्तब्ध शून्य में बैठे अपनी अभिव्यक्ति के लिए मचल रहे थे। आधुनिक युग के कुछ निर्भीक साहित्य-विचारकों ने बताया कि अन्तर्जगत् की अभी बहुत सी ऐसी भावनाएँ अन-गाये बैठी थीं जो मध्ययुगीन नीति-मर्यादा के कठोर अंकुश के कारण अपना सिर भी न उठा पाई थीं। १९ वीं तथा २०वीं शताब्दी की मनोविज्ञान की क्रान्तिकारी शोधों ने यह निर्दिष्ट किया कि मानव-मन की इच्छाएँ व वासनाएँ अनुचित रूप से दमित होने पर कुण्ठाएँ व ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर देती हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व बड़ा जटिल व ग्रन्थिल हो जाता है। बस फिर क्या था—जीवन की कितनी रंगीन लालसाएँ, कोमल कल्पनाएं, चहचहाती आकांक्षाएँ पिंजरे में से एक साथ छूट पड़ीं, किन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते नीति-मर्यादा का ध्यान जान-अनजान में

रखता ही है। परिणाम यह हुआ कि निजी जीवन की कोमल-कमनीय भावनाएँ समाज के आतंक से कल्पना के स्वर्ण-रजत पंखों की सहायता से मन के अन्य अंचलों या धरातलों पर ले जाई जाकर लक्षण-व्यंजनाप्रधान चमचमाती व रंग-बिरंगी नवीन आविष्कृत काव्य-भापा में सजा-सँवारकर प्रस्तुत की गईं। इस प्रकार के प्रयत्न में जिस विशिष्ट काव्य-शैली की अवतारणा हुई वह 'छायावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस शैली के उपकरणों में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण थी—भाषा, जिसके परिष्कार-सँवार व संस्कार में 'प्रसाद' जी अग्रणी रहे।

'प्रसाद' जी की भाषा, उनकी उठान व आरम्भिक विकास के युग में परम्परागत ब्रजभाषा ही थी; किन्तु शनैः शनैः उनका संक्रमण खड़ी बोली की ओर होता चला। संस्कृत विद्या की अलका काशी और फिर 'प्रसाद' जी का उसके एक विद्या-व्यसनी कुल में जन्म और लालन-पालन, किशोरावस्था में विद्यावारिधियों की छाँह और आशीर्वाद, अभिजात वातावरण—इन सब संयोगों से भावना व बुद्धि बचपन से ही एक विशेष गौरवशाली ऊँचाई पर स्थित रही और भाषा में वहीं आभिजात्य, प्रौढ़ता, संयम् व सौम्यता ने जीवन भर के लिए अड्डा जा जमाया।

आरम्भ से ही 'प्रसाद' जी की काव्य-भाषा एक मान, बाँकपन और मरोर लिये हुए दिखाई पड़ती है। विकास की दोपहरी में उसमें बड़ी ओजस्विता, तेज और प्रवाह भी आ मिलता है। आगे धूप की नरमी के समय गंभीरता, शुभ्रता और शान्ति का ही आधिक्य है। निम्नलिखित उद्धरणों से भाषा-सम्बन्धी विकास-चरण स्पष्टता से दिखाई पड़ेंगे और साथ ही इनमें 'प्रसाद' की भाषा के स्तरों का भी बोध हो सकेगा—

"नवल दम्पति केलि विनोद में। जब विमोहत है नव मोद में॥
प्रथम भाषण ज्यों अधरान में। रहत हैं तउ गूँजत प्रान में॥
निसि कहौ तुमहू चुपधी रसों। विमल नेह कथान गँभीर सों॥"

—कानन-कुसुम : प्रथम संस्करण

"हिमगिरि का उत्तुङ्ग शिखर है सामने, खड़ा बताता है भारत के गर्व को।
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की, मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में।

बनती हैं हिम-लता कुसुम -मणि के खिले, पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है।"

—कानन-कुसुम : परिवर्द्धित संस्करण

"वंशी-रव से होता पूर्ण दिगन्त है जो परिमल सा फैल रहा आकाश में।
प्रकृति चित्रपट सा दिखलाती है अहा, कल कल शब्द नदी से भिन्न न और का।
शांति ! प्रेममय शांति भरी है विश्व में, सुन्दर है अनुकूल पवन, आनंद में,
झूम-झूम कर धीरे-धीरे चल रहा, पिये प्रेम मदिरा विह्वल सा हो रहा।"

—करुणालय

"विमल हृदय के छायापथ में अरुण विभा (भी) थी फैली
घेर रही थी नवजीवन को वसंत की सुखमय संध्या,
खेल रही थी सुख-सरवर में तरी पवन अनुकूल लिये
सम्मोहन वंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में।"

—प्रेम-पथिक

"इस अनंत पथ के कितने ही, छोड़ छोड़ विश्राम-स्थान ;
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान। × ×
आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास ;
दूर क्षितिज में जा कर सोता था जीवन का नव उल्लास। × ×
तव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद ;
स्वर्ण-रत्न की तरल कांति, शिशु का स्मित या माता की गोद।"

—झरना

"मधुमालतियाँ सोती हैं कोमल उपधान सहारे ;
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे।
लिपटे सोते थे मन में सुख-दुःख दोनों ही ऐसे ;
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुञ्ज में जैसे।
मणिदीप विश्व-मंदिर की पहने किरणों की माला ;
तुम एक अकेली तब भी जलती हो मेरी ज्वाला।" —आँसू

"निर्जन जलधि वेला रागमयी संध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंगरलियाँ।
दूरागत वंशी-रव—
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।

मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में।
रंध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।"
—लहर

"बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्व-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिबली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।"
—कामायनी

अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
व्याकुलता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुलता बिजली सी तुम मचलो आर्द्र हृदय-घनमाला से,
आँसू बरुनी से उलझे हों अधर प्रेम के प्याला से।"
—स्कन्दगुप्त

"हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध बुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।"—चन्द्रगुप्त

'प्रसाद' की भाषा ओज और माधुर्य गुणों से परिपूर्ण है; पर उसमें प्रसाद गुण की तो कमी ही कही जायगी। हाँ, आरम्भिक कृतियों में प्रसाद गुण का भी अभाव नहीं। 'कामायनी' जैसे प्रौढ़ महाकाव्य में भी वह कहीं-कहीं दिखाई पड़ जाता है, जैसे—

"पाक यज्ञ करना निश्चित कर लगे शालियों को चुनने ;
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना लगी धूम-पट थी बुनने।
शुष्क डालियों से वृक्षों की अग्नि-अर्चियाँ हुईं समिद्ध ;
आहुति की नव धूम-गंध से नभ कानन हो गया समृद्ध।

और सोचकर अपने मन में, जैसे हम हैं बचे हुए ;
क्या आश्चर्य और कोई हो जीवन लीला रचे हुए।
अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ कहीं दूर रख आते थे ;
होगा इससे तृप्त अपरिचित समझ सहज सुख पाते थे।
दुःख का गहन पाठ पढ़कर अब सहानुभूति समझते थे ;
नीरवता की गहराई में मग्न अकेले रहते थे।"

जो हो, सामूहिक दृष्टि से देखने पर 'प्रसाद' की भाषा प्रवाहपूर्ण, भावानुरूप, प्रांजल, समर्थ, सशक्त व संगीतात्मक है। यद्यपि 'प्रसाद' जी की भाषा खड़ी बोली है, किन्तु विकास के प्रथम चरण में प्रयुक्त ब्रजभाषा का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव 'इक' 'झोरी' आदि शब्दों के रूप में आगे तक भी दिखाई पड़ता है—विशेषतः 'झरना' की कविताओं तक। उर्दू के अत्यन्त प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है—जैसे खराद, मालूम, बरजोरी, सीना, खूब, चहल-कदमी, कागज, बाजी, बदनाम, रोज, बेगुन आदि। कहीं-कहीं बनारसी प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे सहायक क्रिया 'थी' के स्थान पर 'रही' का प्रयोग—

"देवों के सोम सुधा रस की मनु की हाथों में खेल रही।"—कामायनी

व्याकरण की दृष्टि से कुछ विशेष और चित्य प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ, छन्दानुरोध से 'असंख्य' के लिए 'असंख' का प्रयोग। 'उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी-सी उदित हुई' में 'बरसाती' के स्थान पर 'बरसती' का प्रयोग 'च्युतसंस्कृति दोष' के अन्तर्गत ही समझा जायगा। 'आकर्षण-पूर्ण' के स्थान पर 'पूर्ण आकर्षण' (कामायनी : श्रद्धा सर्ग) उर्दू शैली के अनुसार लिखे जाने वाले 'कार्यालय कमिश्नर' जैसे प्रयोगों की याद दिलाने वाला है। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' में ऐसे प्रयोग पर्याप्त हुए हैं। यदि 'पूर्ण' 'आकर्षण' का विशेषण है, और पूर्ण (निःशेष) आकर्षण को ही जीवन का केन्द्र कहना अभिप्रेत है तो ऐसी आपत्ति उठाई भी नहीं जा सकती। अस्तु; कहीं-कहीं 'न्यूनपदत्व दोष' से अर्थ-प्राप्ति में कठिनाई का भी अनुभव होता है—"जलधि के फूटें 'कितने' उत्स" में विशेषण 'कितने' के साथ 'ही' शब्द की अनुपस्थिति खटकती है। विभक्तियों का लोप तो 'प्रसाद' की कविता में बहुत से स्थानों पर मिलेगा—जैसे, हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठ शीला की शीतल 'छाँह' में 'छाँह' संज्ञा में सप्तमी विभक्ति 'में' की आकांक्षा है। इसी प्रकार 'भोर की तारक

द्युति की गोद' में 'में' विभक्ति का लोप है । कहीं-कहीं लिंग-परिवर्तन भी दिखाई पड़ता है, जैसे, 'दुखिया है सारा अग जग' (लहर) में दुखी के स्थान पर 'दुखिया' का प्रयोग । अप्रचलित, क्लिष्ट व तत्सम शब्दों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर हुआ है—चपक, वन्या, अपांग, विटपि, वन्या, विलय, प्रज्ञापारिमिता, चिति, उपधान, शतघ्नी, वदान्यता, लोम-विलोम, ऊभ-चूभ, कवरी, कुड्मल, अत्यन्त तिरस्कृतअर्थसदृश, कृष्णागुरुवर्तिका, ध्वान्त आदि ऐसे ही कुछ शब्द हैं। कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है ।

"प्राणी निज भविष्य चिन्ता में वर्त्तमान का सुख छोड़े—
दौड़ चला है बिखराता है अपने ही पथ में रोड़े ।"—कामायनी

पर रोड़े बिखराये नहीं अटकाये जाते हैं ।

"नाहर नख से हृदय लड़ाना, और कहूँ क्या हाय ?" —झरना

× × ×

हृदय हुआ अधिकृत अब तुमसे, तुम जीते हम हारे ।" —झरना

आदि में यही प्रयत्न दिखाई पड़ता है ।

'जंगली' जैसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जो, प्राचीन अलंकारशास्त्र के हिसाब से, शायद 'ग्राम्यत्व दोष' के अन्तर्गत ही परिगणित होगा । 'अनखाकर' 'सुखला', 'मुसक्याय', 'सिचाँव' आदि व्रज अथवा देशज क्रियाओं का प्रयोग हुआ है । सर्वनामों के प्रयोग में भी कहीं-कहीं स्खलन दिखाई पड़ता है, जैसे—'पुतलो ! तेरे वे जयनाद' में 'तेरे' के स्थान पर—संज्ञा 'पुतलों' के अनुरूप, बहु-वचन से 'तुम्हारे' सर्वनाम का प्रयोग ही ठीक रहता है ।

'प्रसाद' के कुछ अत्यन्त प्रिय शब्द भी हैं जिनका व्यवहार बहुत हुआ है—जैसे, बिछलन या बिछलना, कुहक, कुतूहल, नील, मलयज, अरुण, नियति, करुण, मधु, अनन्त, गंभीर, विडम्बना आदि ।

शब्दों की पुनरावृत्ति भी कहीं-कहीं पाई जाती है जो भावोत्कर्ष के स्थलों में प्रभाववर्द्धिनी ही अधिक सिद्ध होती है । जैसे—

"सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना ;
शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति भी पद-तल में विनम्र विश्रांत ;
गया, सभी कुछ गया, मधुरतम सुरबालाओं का शृंगार ।
—कामायनी

: ७ :

'प्रसाद' और उनका रहस्यवाद

जब हम इस प्रपंचात्मक जगत् के नाना रूप-रंगों, आकार-प्रकारों, ध्वनियों-गतिविधियों पर टकटकी लगाकर विचार करने लगते हैं तो एक विचित्र ही प्रकार की अनुभूति होने लगती है। यह ठीक है कि अधिकांश दृष्टाओं की दृष्टि छवियों के इस विशाल व चंचल समुद्र पर ऊपर ही ऊपर तैरती रहती है पर जिन्हें कुरेदने वाली अथवा कठफुरनी की चोंच सी तीखी और लम्बी दृष्टि मिली है वे इस पसारे के तल में झाँकने और वहाँ पहुँचने की चेष्टा किये बिना भी नहीं रहते। इस प्रकृति में कारण-कार्य की एक अविराम शृंखला लगी हुई है और इसके सहारे वे जगत् के मूल अथवा अनादि तत्त्व तक पहुँचने की चेष्टा करते रहते हैं। क्रांतदर्शी ऋषि, दार्शनिक, कवि, भक्त, ज्ञानी आदि इस प्रकार के दृष्टा कहे जा सकते हैं। अपने चिन्तन और साधना के क्रम में वे सब मानो इस निष्कर्ष तक तो पहुँच चुके हैं कि इस सृष्टि के मूल में 'कोई' है अवश्य; पर वह 'क्या', 'कैसा', और 'क्यों' है—ये प्रश्न किसी की भी समझ में आज तक न तो आये हैं और न आ ही पा रहे हैं। सब अपने-अपने ढंग से अपनी इस जिज्ञासा को वाणी दे रहे हैं और उनकी व्याख्या कर रहे हैं। इस प्रकार 'कुछ है अवश्य' इस निश्चय के बाद अनेक प्रकार से उसके बारे में अटकल लगाने की प्रेरणा करनेवाली भावना ही 'रहस्य' है और उस 'रहस्य' को उद्घाटित करने के लिए किसी प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक या साहित्यिक मतवाद की सृष्टि ही 'रहस्यवाद' है।

रहस्यवाद के मूल में मानव-मन की एक बहुत गहरी वृत्ति है और वह है 'जिज्ञासा'—अर्थात्, किसी वस्तु या तथ्य के बारे में जानने की आकुलतापूर्ण गहरी अथवा सतत् चेष्टा। यह ज्ञातव्य या जानने योग्य वस्तु या तथ्य का आधार दो प्रकार से प्राप्त होता है—(१) शुद्ध तर्कपूर्ण जिज्ञासामयी बुद्धि के द्वारा, या (२) प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न कल्पना के आंतरिक नेत्रों से। पहली के द्वारा उक्त प्राप्ति अत्यन्त कठिन कही जाती है जब कि दूसरी के द्वारा

अपेक्षाकृत सरल। वाहर के नेत्र जितना नहीं देख सकते उतना कल्पना के नेत्र देख लिया करते हैं। मनोविज्ञान और दर्शन के जगत् में प्रातिभ ज्ञान का वहुत वड़ा महत्त्व है।

कवि भी इस प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न होता है। तार्किक या ज्ञानी, तर्क या वुद्धि-वल से जो कुछ देखा करता है कवि उसे कल्पना के नेत्रों से सहज ही देख लिया करता है। धार्मिक या दार्शनिक जगत् के रहस्यदर्शियों की तरह कभी-कभी कवि भी रहस्यदर्शी होते हैं (कवि रहस्यदर्शी भी हों, यह सदा आवश्यक नहीं) किन्तु वे रहस्य का दर्शन वुद्धि-वल से नहीं, परन्तु कल्पना या भावना के वल पर ही करते हैं। भावना के वल पर जो रहस्य का दर्शन होता है, उससे उच्च कोटि के साहित्यिक रहस्यवाद (भावात्मक रहस्यवाद) का जन्म होता है।

रहस्यवाद के विवेचन में कवि का मुख्यतः साधक-रूप निहित है। इस साधक रूप का प्रथम अनिवार्य लक्षण है कवि का आत्मा की सत्ता में अखंड विश्वास। जिज्ञासा यदि रहस्य-भावना की नींव है तो आत्मा की सत्ता में विश्वास इस रहस्यवाद की मूल प्रेरणा। आत्मा की सत्ता में विश्वास किसी वाहरी अभ्यास पर उतना निर्भर नहीं होता जितना सहज जन्मजात वृत्ति पर। लाख तर्कों से भी किसी में आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं जमाया जा सकता। यों वह जन्मांतरीण संस्कारों के कारण सहज ही जन्म से ही प्रतिष्ठित रहता है। आत्मा की सत्ता में विश्वास का अर्थ है आत्मा की अजरता-अमरता में विश्वास। भारतीय उपनिषद् आत्मा की अमरता का जय-घोष करते नहीं अघाते। सब कुछ आत्मतत्त्व है; सब आत्मा में है और सब में आत्मा है। जव सब कुछ आत्मा ही है तो मृत्यु कैसी और भय कैसा? इसलिए रहस्यवादी अनिवार्यतः अखंड जीवन-शृंखला में विश्वास करता है; मृत्यु के पहले भी जीवन था और मृत्यु के बाद भी जीवन है, मृत्यु केवल विश्राम का कुञ्ज है जहाँ उत्साहपूर्वक अनंत जीवन की यात्रा के लिए शक्ति और उत्साह का संग्रह किया जाता है, वह जननी का स्तन है जो जीवन-क्रीड़ा के लिए तन को शक्ति व पुष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार रहस्यवादी कवि जीवन-प्रवाह की अखंडता व अनंतता में विश्वास करता है। जन्म से लेकर मृत्यु की सीमाओं के वीच वँधा हुआ यह जीवन उसकी दृष्टि में माला का एक मनका है जो अपने आप में एक

स्वतन्त्र इकाई होते हुए भी आत्म-तत्त्व के नाते और आत्म-तत्त्व के सूत्र में अगले-पिछले जन्मों से बँधा हुआ है। इस विचारधारा से रहस्यवादी कवि को बड़ी शक्ति, प्रफुल्लता और निर्भयता प्राप्त होती रहती है। यह विचार कोरा कामचलाऊ विचार न होकर उसका अखंड विश्वास व अविचल निष्ठा ही हो जाता है। ऐसी जीवन-दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति अथवा साधक समस्त चराचर जगत् को एक ही सूत्र से बँधा हुआ, एक ही प्रकाश चेतना से आलोकित और एक ही शासन से शासित अनुभव करता है। वह मानव और प्रकृति को एक ही बीज से प्रस्फुटित दो अंकुरों और पल्लवों के रूप में देखता है जिसकी सारी मदिर लाली और मांसल हरियाली, बीज की एकता के नाते, एक ही रस का विस्तार है। वह मानव-जगत् और प्रकृति-जगत् को एक परम कुतूहलमयी दृष्टि से देखने लगता है। उसे सर्वत्र एक ही सौंदर्य की सजीवता, एक ही जीवन का स्पन्दन और एक ही महासंगीत के स्वर का अनुभव होता है। वह एक ऐसे रस, यौवन, सौन्दर्य, उल्लास, चेतना और आनन्द के उत्स की कल्पना में डूब जाता है जहाँ से शिशु के अधरों को उल्लास, चिड़िया के कंठ को स्वर, सितार को रागिनी, उषा को लाली, रमणी के नेत्र को तिरछी चितवन, कवि को शब्द और छंद तथा कुसुम को पराग भरपूर मात्रा में प्रतिक्षण मिलता रहता है। इस प्रकार समस्त चराचर प्रकृति रहस्यवादी कवि के लिए एक ही जीवन से स्पन्दित होती रहती है, जड़ और चेतन के समस्त भेद गलकर बह जाते हैं। यह है रहस्यवादी कवि की जीवन-दृष्टि। छायावादी कवि अनुभूति के इस धरातल पर नहीं रहता। वह तो प्रकृति पर चेतना का आरोप करके ही सन्तुष्ट रहता है ; प्रकृति के रूपों में नारी-रूपों की कल्पना करके अथवा उनमें अपनी प्रिया या प्रेयसी की छाया या प्रतिबिम्ब का अनुभव करके। किन्तु रहस्यवादी कवि इस प्रकार का कोई आरोप या कल्पना न करके प्रकृति में साक्षात् विराट् चेतना का दर्शन करता है। और यही छायावादी तथा रहस्य-वादी कवि की जीवन-दृष्टि में मूलभूत अन्तर है।

'प्रसाद' ने अनेक स्थलों पर चराचर प्रकृति में विराट् का दर्शन किया है। 'प्रसाद' का रहस्यवाद कबीर की तरह साधनात्मक रहस्यवाद न होकर जायसी की तरह भावात्मक रहस्यवाद है। उन्होंने भावमयी दृष्टि से चराचर में व्याप्त

रहस्यमयी रमणीय सत्ता के दर्शन का प्रयास किया है। कभी-कभी तो इस दर्शन के मूल में कवि की जिज्ञासा ही प्रमुख है—

"महानील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान !
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, यह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।"

—कामायनी

विश्लेषण करने पर उपर्युक्त उद्धरण में 'प्रसाद' के रहस्यवाद से सम्बन्धित अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं—(१) वह रहस्यमयी सत्ता अनन्त रमणीय है; (२) कवि उस सत्ता का दर्शन अभी तक नहीं कर सका है, इसलिए उस सत्ता के प्रति अभी पूर्ण तादात्म्य की कोई स्थिति नहीं, केवल जिज्ञासा की भावना मात्र है; (३) अनादि काल से ग्रह-नक्षत्र आदि भटक-भटक कर उसका अनुसन्धान कर रहे हैं पर उसका अभी तक पता न चला; (४) कवि उस सत्ता को ईश्वर, परमात्मा आदि किसी नाम से अभिहित न करके अभी केवल आन्तरिक अनुभूति के माधुर्य के कारण 'अनन्त रमणीय' भर कहकर ही चुप है। वह कौन है, कैसा है, क्या है—अभी कुछ भी समझ में नहीं आ पा रहा है। हाँ, उसे इतना भान अवश्य हो रहा है कि वह विराट् है, विश्व को कुछ अलभ्य दान देने वाला है; (५) समुद्र भी उसकी महिमा का गान करता रहता है। सब उसकी सत्ता को सहर्ष स्वीकार करते हुए उसका मौन प्रवचन कर रहे हैं; (६) सब उसके रस से सिंचे हुए हैं तथा वह इतना सुन्दर है कि सृष्टि का कण-कण उसके रूप-सौंदर्य के प्रति आकृष्ट है।

'प्रसाद' की रहस्य-भावना का एक दूसरा भव्य-चित्र और लीजिए जिसमें

कवि ने उस निराकार, निर्गुण व रहस्यमयी सत्ता का, कल्पना के बल पर, अत्यन्त सुन्दर मानवीकरण किया है—

"निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप जाओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
आह, चूम लूँ जिन चरणों को चांप-चांप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिह्न-सी बन कर यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरण-उँगलियों से ढँक लोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे; पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो !
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
वेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो।"

—लहर

जगत् के मूल में निवास करनेवाली निर्गुण निराकार सत्ता का कैसा सुन्दर और मधुर मूर्त्तिकरण है। प्रकृति के रूप में वह सत्ता प्रत्यक्ष तो हो रही है किन्तु मनुष्य जब तक किसी को अपने ही समान मनुष्य रूप में न देख ले तब तक मानो उसे पूरा सन्तोष नहीं। इस अभाव की पूर्ति कवि उस सत्ता के काल्पनिक मानवीकरण के रूप में कर रहा है। कवि के सामने वह सत्ता उपस्थित है किन्तु पूरी तरह प्रत्यक्ष नहीं हो रही है—मानो कोई अपनी ही केश-राशि के अन्धकार में लुकने का असफल प्रयत्न कर रही हो। चांद, तारे, कमल, मेघ आदि को देखकर हमारे मन में कुतूहल की वृद्धि होती है अतः वह सत्ता, जो प्रकृति में प्रकाशित हो रही है, बड़ी कुतूहलवर्द्धिनी है ! कवि उस सत्ता के प्रति इतना आकृष्ट है कि उसके चरणों को चूम डालना चाहता है। किन्तु वह अदृश्य सत्ता पकड़ में आवे तब तो न ; कवि उसे प्राप्त करने के लिए भगा-भगा फिर रहा है पर वह खिलाड़ी भी तो कच्चा नहीं। धीमे-धीमे पाँव दबाकर कुछ कदम इधर-उधर रखकर न जाने कहाँ अदृश्य हो जाता है ! आह कितना सुन्दर है वह ! जब पंजे दबाकर चलता है तो सुन्दर

चरणों का रक्त दबकर एक ओर चमकने लगता है—ठीक उसी तरह जिस प्रकार विश्रान्त में उषा की लाली आकाश के एक किनारे एक झलक उठती है। वह विराट् भूत भविष्य, वर्त्तमान सब की सुध लेने प्रत्येक क्षण इधर से उधर लपकता रहता है। वह इतना विशाल व विराट् है कि यह पृथ्वी तो उसके चरण से भरी हुई धूलि के एक कण के समान है और सुन्दर वह इतना कि चरण-कमलों से गिरी कुंकुम-सी धूल को साक्षात् उषा जो (स्वयं इतनी सुन्दर है।) अपना भाल सजाने के लिए (माणिक्य के आभूषण की तरह) प्रयुक्त करेगी। उस परम रमणीय की यह लुका-छिपी, यह नोंक-झोंक और यह लीला देखकर कवि खीझकर, निराश होकर, प्रेम से और आनन्द से उसे सिर झुकाकर मौन होकर ही सुखी हो जाना चाहता है और ऐसे अवसर पर कवि आनन्दपूर्ण हृदय से पलकें भी क्यों न झुका ले; क्योंकि उस परम सुन्दर की रची हुई कंचन की दमकवाली सूर्य-किरणों की शोभा तो सौन्दर्य और चमक के कारण चकाचौंध ही उत्पन्न कर देने वाली है! वह रसमय तो कवि की इस विवशता, निराशा और क्षोभ को देखकर भी मानो और भी मुसकरा रहा है। कैसी निष्ठुर क्रीड़ा है! न तो वह प्रत्यक्ष ही होता है और न पूर्णतया लुप्त ही! कवि अपने अधरों को उसके ही अधरों से दबवाना चाहता है जिससे कि उसे यह विश्वास हो जाय कि परमप्रिय ने उसे अब अपना बना लिया है! उसका पवन का रेशमी अंचल लहरा रहा है। कवि चाहता है कि क्षण भर के लिए वह प्रिय स्थिर होकर उसके पास आ जावे और उसे अपने आलिंगन में ले ले जिससे कि यह भाग-दौड़, मान-मनुहार की थकावट मिट जावे और कवि का अन्तःकरण प्रसन्न और शांत हो जावे!

इस प्रकार यह कविता रहस्य-भावना का एक अत्यन्त रमणीय चित्र प्रस्तुत करती है। इसका चित्र-फलक (Canvas) बड़ा ही व्यापक है। आदि से अन्त तक औरों के सामने, किसी चित्रपट पर चलती चित्र-मालिका सी दृश्यावलि उपस्थित होती चलती है! वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यह किसी लौकिक नायक या नायिका का चित्र नहीं है वरन् उसी रमणीय रहस्यमयी सत्ता का ही उदात्त व रसमय चित्र है।

'प्रसाद' आधुनिक हिन्दी कवियों में रहस्यवादी कवि कहे जाते हैं। अब थोड़ा इस पर विचार करना चाहिए कि वे किन अर्थों में और किस सीमा तक

रहस्यवादी कवि [illegible] आधुनिक कवियों में सुश्री महादेवी वर्मा [illegible] रहस्यवाद की [illegible] माना है। 'प्रसाद' के काव्य में रहस्यवाद [illegible] किन्तु वह कबीर और जायसी के रहस्यवाद [illegible] में [illegible] नहीं दिखाई देता। [illegible] जगत् में ही प्रभु की [illegible] क्योंकि इन प्रसंगों के पीछे [illegible] उनकी जिज्ञासा अधिक भावनामयी है [illegible] के लिए क्षेत्र पर्याप्त उर्वर है। [illegible] 'प्रसाद' को पूर्ण [illegible] रहस्यवादी कवि कहने की बात भी समझ से बाहर है। [illegible] 'प्रसाद' [illegible] सगुण और निर्गुण की मध्यवर्तिनी है; वे न तो [illegible] कबीर की तरह ही [illegible] के भीतर ही [illegible] को ढूँढ़ने की बात कहते हैं और न [illegible] तुलसी की तरह 'अंतरजामिहु ते बड़ बाहिरजामी' ही कहते हैं। [illegible] तथा काव्य के अनुशीलन पर लगता है कि उसके मन में बाहर और भीतर दोनों के ही प्रति पर्याप्त आकर्षण है। वह बहिर्जगत् को [illegible] कहकर उसकी उपेक्षा नहीं करता और न केवल अन्तर्जगत् को ही [illegible] देता है। फिर भी सामूहिक दृष्टि से देखने पर जगत् की यह [illegible] पूर्ण उलझनमयी दिखाई देती है अतः उसकी काव्यगत अभि-[illegible] भी पर्याप्त गम्भीर व जटिल अवश्य होगी ही। 'प्रसाद'-काव्य के क्लिष्ट [illegible] सामान्यतः ३ प्रकार के दिखाई पड़ते हैं—(१) जहाँ सृष्टि की मूल रह-[illegible] सत्ता के प्रति कवि की दृष्टि गई हो, (२) जहाँ मानव-हृदय की [illegible] अनुभूतियों (लौकिक) की अलौकिक अथवा साहित्यिक अभिव्यक्ति हो और (३) जहाँ अनुभूति की गम्भीरता के कारण अभिव्यंजना-शैली में [illegible] वक्रता, जटिलता या क्लिष्टता उपस्थित हो गई हो। वास्तव में [illegible] और तीसरे प्रकार के स्थलों में रहस्यवाद ढूँढ़ना व्यर्थ है। अनुभूति की [illegible] और शैली की वक्रता या दुरूहता को रहस्यवाद कह बैठना तो कोई [illegible] की बात नहीं। हाँ, प्रथम प्रकार के स्थल अवश्य इस दृष्टि से विचार-[illegible] हैं। ऐसे स्थलों में भी रहस्य-सत्ता का विषय दो रूपों में ग्रहण किया गया [illegible], संकेत-शैली में और द्वितीय, निरूपण की शैली में। वास्तव में रहस्य

भावना का प्रकाशन सामान्यतः संकेत-शैली में ही सुन्दर दिखाई पड़ता है। वर्णन या विवेचन के बीच में बिजली की कौंध या झपक की तरह उस अनन्त रहस्यमयी सत्ता के प्रति संकेत मात्र कर देने में ही इस भावना की सार्थकता और सुन्दरता दिखाई पड़ती है। हाँ, यदि कवि या साधक संसार-त्यागी होकर रहस्य-भावना में अखण्ड रूप से निमग्न रहकर वाणी में उसकी एकांत व्यंजना करता रहे तो बात दूसरी है। संसार के बीच सामाजिक व पारिवारिक उत्तरदायित्वों को ओढ़े हुए कवि ऐसी स्थिति सदा बनाये रखें, यह ज़रा मुश्किल ही है। इसलिए संकेत-शैली में ही रहस्य-भावना का प्रकाशन सुन्दर लगता है। यहाँ तक कि जायसी के पद्मावत में भी इसी संकेत-शैली से काम लिया गया है—यद्यपि जायसी की रहस्य-साधना बहुत ऊँची व उत्कृष्ट है। कबीर अवश्य अखंड रहस्य-साधना में निमग्न रहते हुए अनाहत नाद, गगन-गुफा में अमृत-स्राव व प्रकाश के रहस्यपूर्ण लोक की चर्चा करते रहते हैं। अस्तु!

'प्रसाद' के काव्य में भी रहस्य-भावना अधिकतर संकेत-शैली में ही प्रकट हुई है। जहाँ-जहाँ भी अनन्त और असीम के प्रति आकुलतापूर्ण जिज्ञासा तथा कुतूहल की भावना व्यक्त हुई है वहाँ कवि रहस्यवादी के रूप में दिखाई पड़ा है। 'लहर' में एकाध जगह उस सत्ता का सर्वांगपूर्ण निरूपण भी (जैसा कि पीछे के विस्तृत उदाहरण की व्याख्या से स्पष्ट होगा) किया गया है। 'झरना' तथा 'कामायनी' में कहीं-कहीं इस रहस्य-भावना के सुन्दर संकेत मिलते हैं—

> "भींग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कवरी-भार।
> अरुण किरण सम कर से धूलो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥
> धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुःख अपार।
> किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार॥
> सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
> मिट जावे जो तुम को देखूँ, खोलो प्रियतम खोलो द्वार॥"

× × ×

> "किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग'
> स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
> धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
> किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन?

सुदिन मणि वलय विभूषित उषा सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम निकेत।"

× × ×

"इस अनन्त पथ के कितने ही, छोड़-छोड़ विश्राम स्थान ;
आये थे हम विकल खोजने, नव वसंत का सुन्दर मान।"

—झरना

"दिशा विकम्पित, पल असीम है, यह अनन्त सा कुछ ऊपर है;
अनुभव करते हो, बोलो क्या पद तल में सचमुच भूधर है ?
ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित भूमण्डल रेखा विलीन सी;
निराधार उस महादेश में उदित सचेतनता नवीन सी।"

× × ×

"अपने दुःख-सुःख से पुलकित यह मूर्त्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपुमंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर।
सब की सेवा न पराई, वह अपनी सुख संसृति है,
अपना ही अणु-अणु कण-कण द्वयता ही तो विस्मृति है।"

× × ×

"हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।"

—कामायनी

उपरोक्त उद्धरणों के द्वारा रहस्यवाद की मूल जिज्ञासा-वृत्ति तथा रहस्यवादी की मानसिक और काल्पनिक भूमिका तथा आत्मिक उदात्तता का कुछ पता चल सकता है। वास्तव में रहस्यवाद और अध्यात्मवाद अनेक विन्दुओं पर मिल जाते हैं। ऊपर के उद्धरणों में दोनों का मिलन अथवा मिश्रण भी दिखाई पड़ता है जो कवि की वाणी में कुछ असंगत या अस्वाभाविक होगी। रहस्यवाद की मूल भावना जिज्ञासा है जो वैज्ञानिक में भी होती है या हो सकती है। वैज्ञानिक तर्क-वल से पदार्थ का जिज्ञासापूर्ण विश्लेपण करता है—आत्म-भाव से ततस्थ रहकर। किन्तु कवि इस जिज्ञासा में आत्मा की सरसता

और हरियाली भी मिला देता है; क्योंकि उसके लिए, आत्मा से शून्य कोरी तार्किक व बौद्धिक जिज्ञासा पूर्ण सत्य नहीं होती। इसलिए 'प्रसाद' के उपरोक्त उदाहरणों में आत्मा की भावना भी सहज ही आ मिली है। इस प्रकार 'प्रसाद' का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद है जिसमें कोरी जिज्ञासा न होकर शिव और सुन्दर भी आ मिले हैं।

: ८ :

उपसंहार

'प्रसाद' की काव्य-कृतियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने तथा फिर उनका एक सामूहिक सिंहावलोकन करने के पश्चात् एक महत्त्वपूर्ण कार्य अन्त में और भी शेष रह जाता है और वह है—हिन्दी साहित्य, भारतीय साहित्य तथा संस्कृति और विश्व-मानवता को उनकी देन पर विचार। वास्तव में इस देन की श्रेष्ठता और बहुमूल्यता में ही 'प्रसाद' की काव्य-साधना, जीवन-साधना तथा उनका गौरव निहित है।

कवि 'प्रसाद' हिन्दी के उज्ज्वलतम प्रकाश-पिण्डों में से हैं। उनके काव्य में उनकी अपनी निजी देन के अतिरिक्त हिन्दी की श्रेष्ठतम काव्य-प्रतिभाओं के मूल्यवान तत्त्वों का समावेश हो गया है। विद्यापति और सूर का सौंदर्य-प्रेम; कबीर का स्वर-गाम्भीर्य, शुभ्रता और मानसिक उदात्तता; तुलसी की पावनता, सदाशयता और सत्यहृदयता (sincerity), मीरा की व्यथा-माधुरी, तन्मयता और एकाग्रता; घनानन्द और जायसी की वेदना की मार्मिकता, तीव्रता और निर्मलता, बिहारी का शब्द-शिल्प तथा मीनाकारी और भारतेन्दु की जीवन-चेतना तथा शक्ति-स्फूर्ति का विविध अनुपातों में मिश्रण 'प्रसाद' की रचनाओं में मिलता है। इस सबके अतिरिक्त 'प्रसाद' ने जो कुछ अपना निजी व मौलिक दिया है वह हिन्दी-साहित्य में उन्हें अमर रखने के लिये पर्याप्त है। 'प्रसाद' की सबसे विशिष्ट देन है उनकी श्रेष्ठ व उदात्त मानवीय अनुभूतियों का दान, जिससे हिन्दी-साहित्य निश्चय ही महिमान्वित हो उठा है। मानव-जीवन को जो गौरव और महिमा उन्होंने प्रदान की है वह अनुभूति व विचार के जगत् में उनकी भव्य भेंट मानी जायगी। छायावादी शैली के आविष्कारक अथवा उन्नायक के रूप में आधुनिक हिन्दी-कविता उनकी चिर-ऋणी रहेगी। जीवन-सुलभ मानवीय अनुभूतियों से प्रेरित साहित्यिक आत्माभिव्यंजन की उत्कृष्टता आधुनिक काव्य में जैसी 'आँसू' में है वैसी अन्यत्र विरल है। पूर्व और पश्चिम की महाकाव्य-सम्बन्धी धारणाओं का समन्वय करके 'प्रसाद' ने महाकाव्य-

रचना के क्षेत्र में कामायनी के रूप में जो नवीन पथ खोजे वे उनकी समन्वय-बुद्धि, साहस, मौलिकता और नेतृत्व-शक्ति के परिचायक हैं। मौलिक कल्पना और भावों की सूक्ष्म गतिविधि, गहराई, विविधता तथा उनके स्वरूप आदि की परख-पहचान के बल पर 'प्रसाद' ने जो भावों की चित्रकारी की है वह हिन्दी साहित्य में सर्वथा नवीन व मौलिक है। इस प्रकार अनुभूति, शैली और जीवन-चिन्ता आदि सभी दृष्टियों से 'प्रसाद' की देन हिन्दी-साहित्य को उनकी एक अमर देन है। कदाचित् लोकप्रियता, जीवन-चिन्ता, बुद्धि और भावना के सामंजस्य और विश्व-मांगल्य की भावना की दृष्टि से 'प्रसाद' तुलसीदास के उत्तराधिकारी हैं अथवा उनसे दूसरे हैं।

पर, 'प्रसाद' का इतना ही मूल्यांकन उनका अधूरा मूल्यांकन है। वे हिन्दी के ही कवि नहीं, उनके कृतित्व की आंतरिक शक्ति, चेतना और रस उन्हें महान् भारतीय कवियों—वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, टैगोर आदि—की पंक्ति में सम्मानपूर्वक आसीन कराते हैं। भारतीय कवि वह है जो भारत की संस्कृति और उसके अध्यात्म को रसमयी वाणी दे, जिसके काव्य में भारतीय जीवन के सनातन मूल्यों (values) की प्रतिष्ठा अथवा उनका पुनःस्थापन हो और जिसके काव्य का अनुशीलन करने पर उस जीवन-पूर्णता सूचक सांस्कृतिक दृष्टि का पता चले जो भारत की भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थिति और परिवेश में शताब्दियों के प्रयोग और परीक्षण के बाद निर्विवाद रूप से स्वीकृत और प्रतिष्ठित हो चुकी है। ध्यान देने की बात यह है कि भारतीय कवि के रूप में किसी कवि को प्रतिष्ठित करने में भाषा (बँगला, गुजराती, मराठी आदि), काव्य-रूप, रचना-परिमाण, युग और काल आदि किसी भी तरह बाधक नहीं हो सकते; इस सम्मान का एकमात्र आधार हो सकता है—रचना का आंतरिक गुण (intrinsic worth), उसकी शक्ति, और उस रचना में निरूपित जीवन-मूल्यों की भारतीय जाति के व्यापक और सनातन जीवन-मूल्यों के साथ पूर्ण एकता तथा अविरोध। इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं कि दया, क्षमा, करुणा, उदारता, न्याय, विश्व-मैत्री, सहिष्णुता आदि मानवीय अथवा सांस्कृतिक गुणों का व्याख्यान और प्रतिष्ठान 'प्रसाद' ने जिस गहरी निष्ठा और अदम्य उत्साह के साथ किया है वह उन्हें उनके काव्य का सूक्ष्म-गंभीर अनुशीलन करके देखने पर महान भारतीय कवियों की श्रेणी में

सम्मिलित किये जाने का पूर्ण अधिकारी सिद्ध करता है। अंतिम सत्यों का निर्णय जीवन में परिमाण (quantity) के आधार पर नहीं, गुण (quality) के आधार पर ही होता है—होना चाहिए। 'प्रसाद' की सदाशयता, उच्चार्थता और भावसत्यता उनके काव्य के उक्त गुण की पंक्ति में घोषणा कर रही हैं।

और जो कवि भारतीय कहलाकर ही रह जाय वह अन्तर्राष्ट्रीय और मानवीय (मानव का) कवि न कहलावे, वह भारतीय कवि कैसा? भारतीय संस्कृति तो शुद्ध मानव-संस्कृति होने का दावा करती है! तो भारतीय कवि होने की कसौटी यह है कि वह सम्पूर्ण विश्व का, सम्पूर्ण मानव-जाति का और सम्पूर्ण मानवता का प्रतिनिधि कवि हो। यदि वह ऐसा नहीं है तो सही अर्थों में वह पूरा कवि नहीं। पक्का, खरा और पूर्ण कवि तो वही है जो सनातन मानवता की जोत को जगी रखने में सहायक हो, जो श्रेष्ठ व उज्ज्वल मानवता का प्रचार करे, जो यह सीख दे कि टुंड्रा हो या दक्षिणी ध्रुव, सुन्दरवन हो या सहारा का मरुस्थल सब जगह जीने वाले प्राणी एक ही मानवता-प्रकाश से उसी प्रकार आलोकित हैं जिस प्रकार आकाश के सब तारे एक ही जोत से। तात्पर्य यह कि ऐसा कवि साम्प्रदायिकता, जातीता, प्रांतीययता के अँधेरे को फाड़कर मानवता के सत्य का प्रकाश फैलाता है। वह मानवता का गान इस स्वर में करता है—

"और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान।
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो', विश्व में गूँज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र खिची आवेगी सकल समृद्धि।
देव-असफलताओं का ध्वंस प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति पूर्ण हो मन का चेतन राज।
चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।
विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

रचना के क्षेत्र में कामायनी के रूप में ...
बुद्धि, साहस, मौलिकता और मेधा ...
और भावों की सूक्ष्म गतिविधि
परख-पहचान के बल पर
साहित्य में ... नहीं
... आदि ...
अमर देन
सामंजस्य ... अनुकरण, ...
... उनका करें समर्थ

और यही विश्व-मानवता को कवि
'प्रसाद' ने प्रांत और देश के कठघरे ...
मानवता के धरातल पर पदार्पण किया ...
कर मानव के सुख का मधुर विधान किया है। ...
कवि हो गया है। सूरज न निकले तब तक रत्न, रत्न ...
बात नहीं; जब तक विश्व-भाषाओं में 'कामायनी' का अ...
का प्रकाश, शक्ति व सामर्थ्य न पहचाना जाय तब तक वह ...
यह हास्यास्पद तर्क होगा, सत्य से दूर होगा। सत्य यह है कि ...
कवि हैं। यदि 'प्रसाद' की भावना की 'इति' यहीं तक रहती—

"किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे न...
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, य...
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा ...

तो हम 'प्रसाद' को केवल राष्ट्रीय कवि ही ...
मानव-संस्कृति की चेतना से सम्पन्न 'कामायनी' के ...
न मानना सबसे ओछे दर्जे की गुटबन्दी होगी।

'प्रसाद' के काव्य का वास्तविक बल और प्रकाश ...
क्या उनकी शैली अथवा चित्रण में? नहीं। ...
है, और चित्रण की कला केवल कौशल या अभ्या...
नहीं। कोरी कल्पना अवकाश की ऐय्याशी भी ...

नर्त्तकी का नृत्य मात्र है। क्या वह प्रेम-सौंदर्य, ओज, वीरता, दया, करुणा, क्षमा आदि गुणों या भावनाओं के निरूपण में है ? उत्तर काफी ठीक है पर अभी अधूरा है। 'प्रसाद' के काव्य का वास्तविक बल और प्रकाश कवि के द्वारा की गई मानव और जीवन की आलोचना (criticism) या पुनरार्थ (interpretation) में है। वस्तुतः इसी में कवि की प्रतिभा, शक्ति या चेतना की परीक्षा होती है। इसके अभाव में भरत, मम्मट, आनन्दवर्द्धन, विश्वनाथ या पंडितराज की कसौटियों पर भी पूरा उतरनेवाला काव्य भी मानो पूर्ण काव्य नहीं। क्यों ? इसलिए कि आँखों के सामने से गुजरनेवाले जीवन और जगत् की, जीवन की पूर्णता के आदर्शों के प्रकाश में युगानुरूप व्याख्या करके उसे सुन्दर, स्वस्थ और स्वच्छ बनाने का उद्योग न करना कवि की सांस्कृतिक पंगुता और अपने सामयिक सांस्कृतिक उत्तरदायित्व से पलायन है। 'प्रसाद' ने प्रथम विश्व-युद्ध (सन् १९१४-१९) और द्वितीय विश्व-युद्ध के बीच विश्व की गतिविधि का बारीकी से अध्ययन-अनुशीलन किया और उन्हें लगा कि मानवता ने नाश का मार्ग पकड़ लिया है। बार-बार उसने करुणा, क्षमा और विश्व-मैत्री का आह्वान किया और अंत में 'कामायनी' के रूप में उसने मानव-मन के विकास और मानव-सभ्यता और संस्कृति का विशाल चित्र प्रस्तुत करके जीवन की मूल व्याधियों (विलास, स्वार्थ, अहंकार आदि) का निदान किया, दवा तजवीज़ की ('श्रद्धा' नामक दैवी गुण का धारण), उचित पथ्य बताया (समरसता की भावना और सामंजस्य—इच्छा, ज्ञान और क्रिया का—की वृत्ति और मानव को स्वस्थ व आनन्दमय बनाने का उद्योग किया। मानवीकरण, नूतन छंद-विधान, कल्पना की उड़ान आदि में नहीं, किन्तु उपर्युक्त प्रयत्न में ही 'प्रसाद' की समस्त साधना वास्तव में सुहागिनी हुई है। भारतीय संस्कृति अथवा मानव-संस्कृति की लौ के प्रकाश में किया गया यह प्रयत्न ही 'प्रसाद' के कृतित्व को महिमा-मण्डित करता है।

मानव-विकास की लहलहाती लता के दो गहगहे पुष्प हैं: नर और नारी; जो इस सृष्टि के आनन्द के उपभोक्ता हैं और केवल जिन पर ही यह सभ्यता खड़ी हुई है। घर, समाज और विश्व—सब का सुख इन दोनों पर ही तो निर्भर है ! 'प्रसाद' ने पुरुष और नारी दोनों के मूल स्वरूप की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्याख्या करते हुए उनके पारस्परिक जीवन-व्यवहारों

के बीच ही मानव-सुख की अपार संभावनाओं को, एक जीवन-कला के आचार्य, सभ्यता और संस्कृति के मनीषी आलोचक व समाजशास्त्री की हैसियत से, हमारे सामने रखा है। इस प्रयत्न में जो जीवन की विशद आलोचना निहित है उसका सार यह है कि यह सृष्टि सार्थक है, आनंदमयी है, सुन्दर है। पुरुष और नारी इस सृष्टि के पूर्ण स्वामी हैं। दोनों के हार्दिक ऐक्य व संगठन से ही जीवन के आनन्द का स्वस्थ भोग संभव है। पुरुष अहंकार, ईर्ष्या व स्वार्थ की संकीर्ण वृत्ति को छोड़कर, मन में श्रद्धा धारण करके, प्रकृति का स्वामित्व करे और उससे आनन्द-संग्रह करे। नारी दया, माया, ममता, माधुर्य, सेवा, विश्वास समर्पण, उदारता, करुणा के रत्न लुटावे। यदि इस पथ को छोड़कर वह विपथगामिनी हुई तो नष्ट हो जायगी। दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़कर प्रमाद-रहित हो उदात्त वृत्तियों के हिमालय पर चढ़कर अखंड शांति, अनंत पावनता और असीम आनन्द का अनुभव करें। नर और नारी का जोड़ा अपने-अपने केन्द्र में जब इस प्रकार स्वस्थ, तृप्त और सुखी हो जायगा तो चारों ओर आनन्द का अखण्ड साम्राज्य स्वयमेव स्थापित हो जायगा। यह मानव-जाति के लिए 'प्रसाद' का स्थायी संदेश है।

और प्रस्तुत आज के लिए भी तो कवि ने मार्के की बातें कही हैं। आज विज्ञान का युग है। कवि का दृष्टिकोण पूर्णतया प्रगतिशील है। वह विज्ञान के सदुपयोग में मानव की सुन्दर बुद्धि का शृंगार देखता है। अनंत ऐश्वर्य्यमयी इस जड़ प्रकृति का शोषण करके मानव अवश्य इसमें से अपनी उन्नति के साधनों का संग्रह करे किन्तु उसका यह प्रयत्न, शोषण, अन्याय, स्वार्थ-भावना व अहंकार की सृष्टि न करे अन्यथा मानव भयंकर विभीषिका उत्पन्न कर लेगा। विज्ञान और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध का यह चित्र देखिए—

"देश काल का लाघव करने वे प्राणी चंचल से हैं,
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके सम्बल में हैं;
बढ़े ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में,
नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल में हैं।"

× × ×

"वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की ;

अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की !"

यह वर्गों की खाई किस प्रकार बनती है और केंवाच की फली से स्पर्श हुए अंगों को खुजा-खुजा कर मरने वाले मनुष्य की तरह किस प्रकार मनुष्य राजसी-तामसी इच्छाओं के अवाध विस्तार की दावाग्नि में भस्मीभूत होता है, इसको समझने के लिए उपरोक्त स्थलों की व्याख्या के रूप में 'प्रसाद' की 'कामना' नाटिका देखना ठीक होगा।

इस प्रकार कवि मानव-सभ्यता का एक प्रबुद्ध आलोचक, जीवन-कला का रसवंत कलाकार और अनुभूतियों का रत्नागार है। इन रूपों के सामंजस्य से 'प्रसाद' में एक अद्‌भुत दीप्ति फूट पड़ी है जो हार्दिकता और आत्मीयता के माधुर्य से सरस है।

एक जागरूक कलाकार की तरह कवि ने जहाँ-जहाँ भी मानव की व्यावहारिक समस्याओं और प्रश्नों को लेकर उनको हल करने का प्रयास किया है वहाँ उनकी स्थिति 'विज्ञानमय कोष' (ऋषियों द्वारा निर्धारित पंचकोषों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—में से चौथा कोष) में समझी जा सकती है। इसके आगे 'आनन्दमय कोष' है जो शुद्ध काव्य की दृष्टि से कवि का वास्तविक कोष कहा जाता है। व्यावहारिक प्रयोजनों से अतीत रहकर शुद्ध आनन्द की प्रेरणा से जो रचना होती है उसमें आत्मा अपनी निर्बाध लीला करती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते कवि से समाज व जीवन की आलोचना की माँग भी अब बहुत की जाने लगी है जो ठीक भी लगती है। वास्तव में संसार के अन्धकार व आँधी से लड़े बिना कवि उस आनन्द या रस का सच्चा अनुभव कर ही नहीं सकता जो उसका चरम लक्ष्य है। यह संघर्ष ही उस रस की अनुभूति का साधक होकर उसको (रसानुभूति को) स्वादिष्ट बनाता है। 'प्रसाद' यद्यपि मूलरूप में भोग के या सिद्धावस्था के ही कवि हैं किन्तु उन्होंने प्रयत्न पक्ष या साधनावस्था को भी पर्याप्त रूप में प्रस्तुत किया है। 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'लहर' और 'कामायनी' में कवि का इस साधनावस्था वाला रूप भी प्रकट हुआ है। शुद्ध आनन्द की प्रेरणा से लिखी गई 'प्रसाद' जी की काव्य-रचनाएँ 'झरना', 'प्रेम-पथिक', 'आँसू' और 'लहर' हैं। जीवन की मूल दृष्टि भोगमयी होने से काव्यगत संघर्ष की समाप्ति के साथ ही

तुरन्त रस, भोग और विलास का वातावरण प्रस्तुत कर दिया जाता है—जैसे 'कामायनी' के 'आनन्द सर्ग' में।

महाकवि की दृष्टि संकुचित-सीमित न होकर सामंजस्यपूर्ण होती है। तुलसी अपने समन्वय के विराट् प्रयत्न में ही महान् हैं। 'प्रसाद' जी के काव्य में अनेक गुणों, तथ्यों अथवा रूपों का सामंजस्य पाया जाता है जो उनके दृष्टि-विस्तार और परिपूर्ण जीवन कल्पना की सूचक है। यह सामंजस्य अनेक रूपों में घटित होता हुआ दिखाई पड़ता है—

द्रष्टा, सृष्टा, और कलाकार: कवि के इन तीनों मौलिक रूपों का सामंजस्य।
शक्ति, निपुणता और अभ्यास का सामंजस्य।
वस्तु और शैली का सामंजस्य।
आदर्श और यथार्थ का सामंजस्य।
प्रेरणा, शिक्षा और मनोरंजन का सामंजस्य।
अतीत व वर्त्तमान का सामंजस्य।
पूर्व और पश्चिम का सामंजस्य।
इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य।
सत् चित् व आनन्द : ब्रह्म के तीनों रूपों का सामंजस्य।
सत्य शिव और सुन्दर : जीवन के तीनों मूल्यों का सामंजस्य।
शक्ति, शील और सौंदर्य : भगवान् की तीनों विभूतियों का सामंजस्य।
मस्तिष्क (बुद्धि) और हृदय (भावना) का सामंजस्य।
वस्तु (matter) और चेतना (spirit) अथवा भौतिक और आध्यात्मिक का सामंजस्य।
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष : चतुर्वर्ग का सामंजस्य।
शाश्वत व सामयिक का सामंजस्य।

सामंजस्य के इस प्रयत्न में, सृष्टि की विविधता के मूल में निवास वाली एकता की प्राप्ति या अनुभूति की आकुल आकांक्षा निहित है। जगत् और जीवन में जिधर भी देखते हैं सर्वत्र विरोध और वैपम्य ही दिखाई पड़ता है। इस खड़खड़ाते विरोध और वैपम्य में अविरोध और साम्य का संगीत उत्पन्न करने में उच्च कोटि का बौद्धिक अध्यवसाय, भावना के निर्मलीकरण का अभ्यास और एक दीर्घकाल तक हल की तरह लेखनी का संचार अपेक्षित है। सब विरोधी

विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का सामंजस्य जितनी मधुरता के साथ किसी सत्काव्य में हो सकता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'प्रसाद' जी ने विरोधों, संघर्षों, विग्रहों और द्वन्दों से फटे-चिरे इस संसार में अखंड आनन्द की धारा बहाई है और उनके इस प्रयत्न के लिए भाषा, जाति, देश और काल के सब भेद-भाव भुलाकर मानव-जाति को उनका कृतज्ञ होना चाहिए।

'प्रसाद' जी का उपरोक्त सामंजस्य साहित्य, जीवन और विचार-जगत् से सम्बन्धित है और वह उनके कृतित्व, जीवन और चिन्तन में चरितार्थ हुआ है। पूर्ण कवि तब होता है जब उसके पास द्रष्टा (seer) की क्रांतदर्शी आंख हो, जो उपलब्ध भाव और सामग्री के बल से नवीन का सृजन करे और यह सृजन एक कलाकार का पूर्ण और सुन्दर सृजन हो। इनमें से एक भी उपकरण के अभाव में कवि का पूरा प्रकाश नहीं छिटकेगा। 'प्रसाद' जी 'अतीत के ही गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले' नहीं, एक भविष्यद्रष्टा भी हैं। 'कामायनी' उनका भविष्य का स्वप्न ही है। आँखों में स्वप्न लिये बिना कोई कवि क्या कर लेगा ? उसके पास उछाल-उमंग कहाँ से आयेगी ? उसे तीर की तरह आगे बढ़ने को प्रेरणा कहाँ से मिलेगी ? अपने स्वप्न की उज्ज्वलता, पूर्णता व कोमलता से ही। इस बल से 'प्रसाद' जी ने अपना सृजन किया जो सुन्दर और मोहक है। प्रसाद जी शक्ति (प्रतिभा) के कुबेर थे। जीवन-निरीक्षण (मानव-प्रकृति का) व शास्त्रा-नुशीलन में वे निपुण थे और थे लेखनी के हलधर। काव्य-सामग्री अथवा काव्यार्थ उनका सारगर्भित और प्रौढ़ था और शैली के चटपटे व्यंजनों की तो क्या कहिए ! जो कुछ उन्होंने कहा वह या तो जीवन और संसार का सत्य था और या मनोजगत् का गूढ़ सत्य। इसलिए उनकी 'वस्तु' प्रामाणिक थी, यथार्थ थी। पर क्या कवि केवल यथार्थ का ही चित्रण करके अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान लेता है ? नहीं। आदर्श के प्रकाश में ही यथार्थ का परीक्षण और ग्रहण होता है। 'जो है' केवल वही कलाकार का सत्य नहीं, 'जो होना चाहिए' यही कलाकार का आदर्श है। यदि 'जो होना चाहिए' यह कवि ने न दिया तो कवि ने कोरा भाड़ ही झोंका। 'प्रसाद' ने जीवन के सर्वोच्च आदर्शों के प्रकाश में जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। कवि के तीन मुख्य कर्म (functions) माने गये हैं—(१) उत्पेक्षण, (२) शिक्षण और (३) मनोरंजन या आह्लाद। 'प्रसाद' प्रेरणा के अक्षय कोष हैं। उन्होंने जो शिक्षा दी है वह बहुत ही मधुर,

मिलता है। यह शक्ति यदि शील द्वारा मर्यादित, नियंत्रित और मृदुल न हो तो वह दुराचार और पाशविकता की जननी ही सिद्ध होगी। 'प्रसाद' ने आंतरिक सौंदर्य अथवा चारित्रिक शील के निरूपण द्वारा ही शक्ति को वास्तविक अर्थों में सामर्थ्यवान् बनाया है। ऐसी ही शक्ति और शील के मिश्रण से जीवन में वास्तविक सौंदर्य की आभा फूटती है। 'प्रसाद' के जीवन और काव्य में सौंदर्य की आभा शक्ति और शील के मधुर सामंजस्य में से ही उत्पन्न की गई है।

बुद्धि और भावना का संतुलन और सामंजस्य 'प्रसाद' जी के जीवन और साहित्य का एक अनूठा आकर्षण-बिंदु है। जिस प्रकार कोरी बुद्धि नीरस और दरिद्र होती है उसी प्रकार कोरी भावना भी अंधी और अधोगामिनी। 'प्रसाद' ने अपनी भावना को सर्वत्र सुविवेक के शासन और निरीक्षण में रखा है। उनकी भावना कहीं भी 'हिस्टीरिक', सड़ी या पिलपिली नहीं। 'आँसू' तक में उनकी सजल-करुण भावना प्रौढ़ और उदात्त जीवन-दर्शन या अनुभूतियों की रीढ़ पर खड़ी हुई है। 'प्रसाद' का कवि-हृदय जिन तत्त्वों से 'आँसू' की समाप्ति की ओर संतुलन-लाभ करता है वही इस कृति का बल, संयम और विवेक है। 'कामायनी' में भावना और बुद्धि का कैसा सुन्दर समन्वय हुआ है, यह बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं। चिपचिपाती, लसलसी कोरी भावना की विवेकशून्य अभिव्यक्ति को 'प्रसाद' काव्य नहीं मानते।

विज्ञान के प्रभाव से आज वस्तु (matter) और चेतना (spirit) के बीच बड़ा संघर्ष छिड़ा हुआ है। विज्ञान पदार्थ वा वस्तु का कायल है और अध्यात्म, धर्म तथा दर्शन चेतना के। 'प्रसाद' दोनों का महत्त्व स्वीकार करते हुए उनको एक ही सत्य के दो पहलू मानते हैं। बिना पदार्थ या वस्तु के चेतना किसके सहारे टिकेगी? दार्शनिक जगत् की इस जड़-चेतन की ग्रंथि को 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में, अपनी आस्थाओं और अनुभवों के बल पर अपने ढंग से समझाया है।

काव्य का लक्ष्य हमारे यहाँ चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक फल की प्राप्ति, माना गया है। गीता में भगवान् का यही आदेश-उपदेश है। 'प्रसाद' की कविता में धर्म (साम्प्रदायिकता से युक्त शुद्ध मानव-धर्म) का आचरण ही प्रतिपाद्य है। अर्थ अर्थात् भौतिक जीवन की साधन-

सामग्रियों और काम अर्थात् इन्द्रिय-सौख्य भी यहां समुचित सीमा में निपिद्ध नहीं। पर धर्म, अर्थ और काम का फल मोक्ष अवश्य हो। यदि यह वंधन-मुक्ति या मोक्ष प्राप्त न हुआ तो सौदा वहुत घाटे का रहा समझिए। 'कामायनी' के अंतिम सर्ग में मनु श्रद्धा को जो कुछ कहते हैं उसमें 'प्रसाद' का ही स्वर है। काव्य-साधना द्वारा कवि ऐसी ही महामधुर मुक्ति की अर्जना करना है जिसकी प्राप्ति के साथ यह अनुभूति हो—

"मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर कैलास ओर दिखलाया ;
वोले देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्वी हम केवल एक हमीं हैं ;
तुम सव मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।
समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार वना था ;
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखंड घना था।"

यह है 'प्रसाद' का विराट् समन्वय। इस समन्वय में ही 'प्रसाद' इतने महान् हैं।

× × ×

तो अव प्रश्न उपस्थित होता है—क्या 'प्रसाद का काव्य-कृतित्व सर्वथा निर्दोप है और उसमें मानव-वाणी अपनी चरम पूर्णता को पहुँच गई ? 'हाँ' में उत्तर देना खतरे से खाली नहीं होगा। वास्तव में वाणी के क्षेत्र में इस प्रकार का दावा न तो आज तक किया गया है और न किया ही जा सकता है। फिर 'प्रसाद' जी इसके अपवाद कैसे हो सकते हैं। निश्चय ही उनकी अर्जना महान् है, उनकी सृप्टि भव्य व रंगीन है, उनकी प्रेरणा अदम्य है, उनकी कल्पना विराट् है, उनकी अनुभूति गम्भीर है और उनकी देन वहुमूल्य है। पर जो महाप्राण कवि हिन्दी-साहित्य का प्रकाश-स्तम्भ है, भारतीय साहित्य का रत्न है, मानव-संस्कृति और विश्व-संस्कृति का सजग प्रहरी और उन्नायक है, जिसके काव्य को हम सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप में देखने को उत्सुक हैं, उसे सव की माँगें पूरी करनी हैं। सूर्य का प्रकाश, चाँद की चाँदनी, वादलों का जल, वृक्ष का पवन, लता के पुष्प किसी विशेप व्यक्ति या वर्ग के लिए ही न होकर पृथ्वी के सव जीवों के लिए हैं, सर्वसाधारण के लिए हैं। सर्वसुलभ होनेवाला प्रकृति का यह दान, अपनी अमितता तथा अनन्तता के कारण, लघुता या हल्कापन

का द्योतक होकर अपनी महत्ता और बहुमूल्यता का द्योतक है। क्या 'प्रसाद' का यह महान् आनन्द का दान सर्वसाधारण के लिए अन्न, जल, धूल और पवन की तरह सुलभ है ? कदाचित् उत्तर होगा—"नहीं"। उसकी मधुरता, शक्ति और सौंदर्य का आस्वाद केवल प्रौढ़ पंडित, विश्वविद्यालयों के आचार्य, गम्भीर परीक्षार्थी, जिज्ञासु पाठक ही ले सकते हैं। महाकवि को वास्तविक महानता लोक-हृदय और जनसाधारण ही देता है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा को महान् जनसाधारण ही ने तो बनाया! हम 'प्रसाद' की महत्ता किसमें मानेंगे—कबीर, तुलसी, सूर व मीरा की तरह जन-कण्ठ में उतर आने में ? अथवा उनकी रचनाओं का कुछ पंडितों, भावुकों या जिज्ञासु पाठकों की 'सर्वाधिकार सुरक्षित' सम्पत्ति बनकर ही रह जाने में ? 'प्रसाद' के सच्चे प्रेमी, अनुयायी और पाठक स्वभावतः यही चाहेंगे कि 'प्रसाद' का संदेश घर-घर पहुँचे, क्योंकि उन्होंने मानव के लिए एक मधुर आशा, प्रेरणा और उल्लास का संदेश दिया है। तो अब प्रश्न है—यह सब कैसे सम्भव होगा ? मार्ग में कई बाधाएँ हैं—भाषा की क्लिष्टता, भावों की अत्यधिक गम्भीरता, शैली की दुरूहता और 'प्रसाद' साहित्य की सरल व्याख्या की प्रायः अनुपस्थिति। इस समय अपने गुरुवर पं० पद्मनारायणजी आचार्य (काशी हिन्दू विश्वद्यालय) का सहज ही स्मरण हो आ रहा है जिनका विश्वास (भविष्य-वचन) रहा है कि 'कामायनी' का घर-घर, गली-गली, गाँव-गाँव पाठ होगा, उसकी कथाएँ होंगी, जन-कल्याण की भावना से परिपूर्ण यह काव्य जनता का कंठ-हार हो जायेगा। दूसरी ओर विचारकों की यह धारणा है कि 'कामायनी' शताब्दियों तक कवियों, विद्वानों और पंडितों के निजी पुस्तकालयों की आलमारियों में बहुत बढ़िया जिल्द में मढ़ी हुई रखी जायगी और चिन्तापूर्वक उस पर जमी धूल समय-समय पर झाड़ी जाती रहेगी। ये दोनों धारणाएँ हमें 'प्रसाद'-साहित्य की अमर निधि को स्नेहपूर्ण और चिन्तामयी सुरक्षा के लिए बाध्य करने वाली हैं। 'प्रसाद' का साहित्य अथवा काव्य सब विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है या पढ़ाया जा रहा है, (इसी आग्रह से) उनकी रचनाओं के कई संस्करण निकल चुके हैं और निकल रहे हैं, विश्वविद्यालयों और साहित्य-समाजों में 'प्रसाद' जी की जयन्ती मनाई जाती है, इतने मात्र से ही आश्वस्त होकर बैठ जाना पर्याप्त न होगा। 'प्रसाद' ने जो कुछ लिखा है मानव और व्यक्ति की चेतना को प्रफुल्लित, स्वस्थ और आनन्द-

मय वनाने को लिखा है अतः उस लेख का मोक्ष तभी है जब वह जन-जन की चेतना के द्वारा आत्मसात् कर लिया जाय। इसके लिए 'प्रसाद'-साहित्य के समर्थ व्याख्याताओं की आवश्यकता होगी क्योंकि भाषा को सरल करके तथ्य-ग्रहण का मार्ग खोलना है, अभिव्यक्ति की गई घुण्डियाँ खोलनी हैं और इस ठोस पिंड को सरल-तरल व सुपाच्य बनाना है। यह दूसरी बात है कि हिन्दी के राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने तथा उसके अन्य प्रान्तों में प्रवेश और विस्तार के कारण 'प्रसाद'-साहित्य के पाठक भी अधिकाधिक बढ़ेंगे, प्रान्तीय भाषाओं के संस्कृतबहुल होने के कारण 'प्रसाद' की संस्कृत-निष्ठ भाषा वहाँ सुग्राह्य हो सकेगी ('प्रियप्रवास' में 'हरिऔध' जी का कुछ इसी प्रकार का तर्क है) और विदेशों में भी 'प्रसाद' का सम्मान बढ़ेगा ; किन्तु फिर भी इस तथ्य से अवगत रहना उचित होगा कि हिन्दी में 'प्रसाद' के काव्य की अधिकाधिक सरल, सुबोध और विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता है ; कालान्तर में विश्व-साहित्य में 'प्रसाद' की कृतियों के अनुवाद के परिणामस्वरूप उनकी कृतियों के अध्ययन के प्रति बढ़ती हुई लोक-रुचि भी इस कार्य में बहुत दूर तक सहायक हो सके यह दूसरी बात है.।

उपरोक्त विवेचन के द्वारा हमारा आशय 'प्रसाद'-काव्य की जटिलता और क्लिष्टता को संकेतित करना है। यह जटिलता और क्लिष्टता 'प्रसाद' का दोष है या गुण, यह एक साँस में कहना कुछ कठिन है। तुलसी, सूर, मीरा आदि के काव्य को जब हम देखते हैं कि वह एक साथ अत्यन्त प्रौढ़ भी है और अत्यन्त सरल भी; तो मन में प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या 'प्रसाद' जी भी एक ही साथ दोनों बातें न साध सकते थे। शिव के त्रिशूल पर बसी नगरी का निवास, गीर्वाण-वाणी के पंडितों का सहवास तथा परा विद्या का वातावरण, सम्भ्रांत कुल और शैवमत की साधना—सब कुछ स्वीकार करते हुए भी लगता है मानो अनावृत्त सरल और सादी अभिव्यक्ति में उनका विश्वास न हो। क्या वे इस सीमा तक अपने चारों ओर की परिस्थिति, सामान्य प्रयोग की भाषा तथा उसकी सुबोधता के प्रति विमुख या उदासीन थे कि सदा एक से उदात्त बौद्धिक और भावात्मक स्तर पर ही बने रहना और उसका निर्वाह करना उनका साहित्यिक अथवा मानसिक सत्य हो गया था। यह माना कि अपने साहित्य में उन्होंने सामान्य मनुष्य के सुख का आयोजन किया और उन्होंने युग के प्रति अपना

संदेश भी पुराण, इतिहास और शुद्ध कल्पना क माध्यम से ध्वनित किया, किन्तु सामान्य पाठक के द्वारा क्या यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि वर्त्तमान मनुष्य और उसकी दारुण परिस्थिति से संबंधित प्रसाद की अभिव्यक्ति उसी साधरण मनुष्य की बोली में (जैसी कि तुलसी व वर्डस्वर्थ आदि में दिखाई पड़ती है) क्यों नहीं सम्भव हो सकी और काव्य में युग की समस्याओं का सीधे-सीधे ही (बिना इतिहास-पुराण आदि की आड़ लिये) निरूपण क्यों न सम्भव हो सका ? पर यहाँ फिर वही पुराना तर्क प्रस्तुत कर दिया जायगा कि 'प्रसाद' जी ध्वनिवादी कलाकार थे जो सीधे-सीधे न बोलकर रूपकों, व्यंजनाओं और प्रतीकों की भाषा में ही बोलते थे। ठीक है, काव्य या कला की कसौटियों पर उनका काव्य बहुत खरा तो उतरा पर अवश्य कुछ मूल्य चुकाकर। जिसके लिए लिखा गया उसकी बोली में न लिखा गया। प्रजातांत्रिक मूल्यों के इस युग में उपर्युक्त ढंग से सोचने के लिए हम भी थोड़े-बहुत बाध्य हैं; यों 'प्रसाद' की कविता अपनी जगह हीरे-सी ठोस व कान्तिवान है। यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि आमूल-चूल परिवर्तन के इस युग में यदि 'प्रसाद' जी जीवित होते तो उन्हें भी (पंत जी की तरह) अपनी भाषा तथा शैली-सम्बन्धी नीति में, लोक-काव्य की आवश्यकताओं के प्रकाश में, पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ता।

जो भी हो, इस प्रसंग की तर्कसमस्त किन्तु मधुर समाप्ति केवल यही कह कर की जा सकती है कि ऊँची पहाड़ी पर ठंडी-ठंडी श्याम-सलौनी छाँव में एक शीतल, मधुर और निर्मल जल का नाला कल्-कल् नाद करता हुआ बह रहा है। जिसे प्राणों के इस सजीवन की प्यास है वह ज़रा चढ़ाई करके वहाँ तक पहुँचे। पसीने में वहाँ की वायु-तरंग सुख से पलकें झँपा देगी और लू-धूप में जले हुए को ठंडी घूँटें सुख में लीन कर देंगी।